मङ्गलप्रभात

गांधी जी

प्रकाशक
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली ।

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय मंत्री,
सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली।

—: संस्करण :—
पहलीबार, सन् १९३२ : ५०००
दूसरीबार, सन् १९३८ : ३०००
मूल्य डेढ़ आना

मुद्रक,
रतन प्रेस, (रजिस्टर्ड),
दिल्ली।

मंगलप्रभात

यरवडा जेल का गाँधी जी ने 'यरवडा मन्दिर' नाम रक्खा। वहाँ उन्हें बाहर के कुछ अखबार तो पढ़ने को मिलते थे और आश्रम से थोक की थोक चिट्ठियां आतीं, फिर भी यह निवृत्तिका समय उन्होंने सूत्रयज्ञ में और चर्खे की भक्ति में और गीता के मनन में ही बिताया यह कहना ठीक ही होगा। इस बीच में साबर-मती आश्रम के जीवन में अधिक चेतन पहुंचाने की आवश्यकता है ऐसी मांग एक दो भाइयों की ओर से होने के कारण इन्होंने आश्रम-वासियों के नाम साप्ताहिक पत्र लिखने शुरू किये। कोई भी काम शुरू करके वह नियमित होना ही चाहिए गांधी जी का ऐसा आग्रह होने के कारण हर मंगलवार को सबेरे की प्रार्थना के बाद एक प्रवचन लिखकर भेजने का उन्होंने संकल्प किया। इस संकल्प का प्रथम फल आश्रम के व्रतों पर उनका भाष्य है।

ये प्रवचन मंगलवार को सवेरे लिखे जाते थे इसलिए इन प्रवचनों के संग्रह का नाम 'मंगलप्रभात' रखा गया है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में जब घोर निशा का साम्राज्य विस्तृत था उस समय जिन व्रतों ने राष्ट्रीय जीवन में आशा, आत्म-विश्वास, स्फूर्ति और धार्मिकता का वातावरण पैदा किया उन व्रतोंने ही अन्त में एक नवीन संस्कृति का मंगलप्रभात आरम्भ किया इसे मानने में क्या तनिक भी अत्युक्ति है ?

दत्तात्रेय बालकृष्ण कालेलकर

अनुक्रम

मङ्गलप्रभात

सत्य

प्रातःकाल की प्रार्थना के बाद

२२-७-३०

हम लोगों की संस्था की जड़ ही सत्य के आग्रह में है। इसलिए सत्य को ही प्रथम लेता हूँ।

'सत्य' शब्द सत् से बना है। सत् अर्थात् होना। सत्य है होनापन। और सत्य के सिवा दूसरी किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। इसीलिए परमेश्वर का सच्चा नाम ही 'सत्' अर्थात् 'सत्य' है। इसलिए परमेश्वर 'सत्य' है यह कहने के बजाय 'सत्य' ही परमेश्वर है यह कहना अधिक उपयुक्त है। हम लोगों का काम राजा बिना, सरदार बिना नहीं चलता, इसीसे पर-

मेश्वर नाम अधिक प्रचलित है और रहेगा। लेकिन सोचने से तो 'सत्' या 'सत्य' ही सच्चा नाम है और यही पूरा अर्थ प्रकट करता है।

और जहाँ सत्य है वहाँ ज्ञान–शुद्ध ज्ञान–है ही। जहाँ सत्य नहीं है वहाँ शुद्ध ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता। इसीलिए ईश्वर नाम के साथ 'चित्' अर्थात् ज्ञान शब्द की योजना हुई है और जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ आनन्द ही होगा, शोक होगा ही नहीं। और, सत्य शाश्वत है इसलिए आनन्द भी शाश्वत होता है। इसी कारण हम ईश्वर को सच्चिदानन्द के नाम से भी समझते हैं।

इस सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व है। इसीके लिए हमारी हरेक प्रवृत्ति है, इसीके लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए। ऐसा करना सीख लें तो हमें और सब नियम अपने आप हाथ आजायँ और उनका पालन भी आसान हो जाय। सत्य के

बिना किसी भी नियम का ठीक ठीक पालन अशक्य है।

आमतौर से सत्य का अर्थ हम 'सच बोलना' बस इतना ही समझते हैं। लेकिन हमने सत्य शब्द का व्यापक अर्थ में प्रयोग किया है। विचार में, वाणी में, और आचार में सत्य ही सत्य हो। इस सत्य को सम्पूर्णतः समझनेवाले के लिए जगतमें और कुछ जानने को नहीं रहता, क्योंकि सम्पूर्ण ज्ञान उसमें समाया हुआ है, यह हम ऊपर देख चुके हैं। इसमें जो न समाय वह सत्य नहींहै, ज्ञान नहींहै, फिर उसमें से सच्चा आनन्द तो मिल ही कैसे सकता है ? यदि हम इस कसौटी को काममें लाना सीख जायँ तो हमें तुरन्त यह मालूम हो जाया करे कि कौन-सी प्रवृत्ति करने योग्य है, और कौन-सी त्याज्य, क्या देखने योग्य है, क्या नहीं, क्या पढ़ने योग्य है, क्या नहीं।

पर यह पारस-मणि-रूप, कामधेनु-रूप सत्य, मिले कैसे ? इसका जवाब भगवान् ने दिया है। अभ्यास और वैराग्य से। सत्य की ही घालमेली अभ्यास है और उसके सिवा और सब वस्तुओं के लिए आत्यन्तिक उदासीनता वैराग्य है। यह होते हुए भी हम देखा करेंगे कि जो एक के लिए सत्य है वह दूसरे के लिए असत्य है। इससे घबड़ाने का कारण नहीं। जहाँ शुद्ध प्रयत्न है, वहाँ भिन्न मालूम होनेवाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दीख पड़नेवाले पत्तों के समान हैं। परमेश्वर भी क्या हर आदमी को भिन्न नहीं दिखाई देता ? फिर भी हम जानते हैं कि वह एक ही है। पर सत्य नाम ही परमेश्वर का है, इसलिए जिसे जो सत्य जान पड़े तदनुसार वह आचरण करे तो उसमें दोष नहीं, यही नहीं, बल्कि वही कर्त्तव्य है। यदि ऐसा करने में भूल होगी भी

तो वह ज़रूर सुधर जायगी। क्योंकि सत्य की खोज के साथ तपश्चर्या होती है, अर्थात् स्वयं दुःख सहन करना होता है। उसके पीछे मरना होता है, इसलिए उसमें स्वार्थ की तो गन्ध तक नहीं होती। ऐसी निःस्वार्थ खोज करते हुए कोई आखिर तक गलत रास्ते आजतक नहीं गया। तनिक इधर-उधर होते ही ठोकर लगती है और फिर वह सीधे रास्ते चलने लगता है। अतः इसीसे सत्य की आराधना भक्ति है, और भक्ति तो 'सिर का सौदा है' अथवा वह हरि का मार्ग है, जिसमें कायरता के लिए स्थान नहीं, जिसमें हार जैसी कोई चीज़ है ही नहीं। वह तो 'मर कर जीने का मन्त्र' है।

पर अब हम अहिंसा के बिलकुल पास आ पहुंचे हैं। उस पर अगले सप्ताह विचार करूँगा।

इस प्रसङ्ग में हरिश्चन्द्र, प्रह्लाद, रामचन्द्र,

इमाम हसन हुसेन, ईसाई सन्तों आदि के दृष्टान्त विचारने योग्य हैं। और अगले सप्ताह तक सब बालक-बड़े, स्त्री-पुरुष चलते, बैठते, खाते, पीते, खेलते, मतलब सारे काम करते हुए सत्य की रट लगाये रहें और ऐसा करते-करते निर्दोष नींद प्राप्त कर लिया करें तो क्या ही अच्छा हो? यह सत्यरूपी परमेश्वर मेरे लिए तो रत्नचिन्तामणि सिद्ध हुआ है। सब के लिए सिद्ध हो।

अहिंसा

मङ्गलप्रभात

२९-७-३०

सत्य की, अहिंसा की राह जितनी सीधी है उतनी ही तङ्ग भी है; खांडे की धारपर चलने के समान है। नट बड़ी सावधानी से जिस डोर पर चल सकता है सत्य और अहिंसा की डोर उससे भी पतली है। जरा चूके कि आये नीचे धमसे। पल-पल की साधना से ही उसके दर्शन होते हैं।

लेकिन सत्य के सम्पूर्ण दर्शन तो इस देह से असम्भव हैं। उसकी केवल कल्पना भर की जा सकती है। क्षणिक देह द्वारा शाश्वत धर्म का साक्षात्कार सम्भव नहीं होता। इसलिए अन्त में

श्रद्धा के उपयोग की आवश्यकता तो रही जाती है।

इसीसे जिज्ञासु को अहिंसा मिली। जिज्ञासु के सामने यह सवाल खड़ा हुआ कि मार्ग में आने वाले सङ्कटों को सहे या उसके लिए जो नाश करना पड़े वह करता हुआ आगे बढ़े। उसने देखा कि जो नाश करता है तो आगे नहीं बढ़ता, दूर पर ही रहजाता है। सङ्कट सहता है तो आगे बढ़ता है। पहले ही नाश में उसने देखा कि जिस सत्य की उसे तलाश है वह बाहर नहीं, भीतर है। इसलिए जैसे-जैसे नाश करता जाता है वैसे-वैसे पीछे पड़ता जाता है, सत्य दूर हटता जाता है।

हमें चोर सताते हैं। अपनी रक्षा के लिए हमने उन्हें दण्ड दिया। उस समय वहाँ से जरूर वह भाग गये लेकिन दूसरी जगह जाकर सेंध मारी। पर वह जगह भी हमारी ही है।

यानी हम अंधेरी गली में जाकर टकराये। चोर का उपद्रव बढ़ता गया, क्योंकि उसने तो चोरी को अपना कर्त्तव्य मान लिया है। हम देखते हैं कि इससे अच्छा तो यही है कि चोर का उपद्रव सह लिया जाय। इससे उसे समझ आवेगी। इतना सहने पर हम देखेंगे कि चोर हमसे भिन्न नहीं है। हमारे तो सब सगे हैं, सब दोस्त हैं, उन्हें सजा नहीं दी जा सकती। लेकिन उपद्रव सहते जाना ही बस नहीं है। इससे कायरता पैदा होती है। अतः हमें अपना दूसरा विशेष धर्म दिखाई दिया। चोर जब अपने भाई-बन्धु हैं तो उनमें वह भावना उत्पन्न करनी चाहिए। अर्थात् हमें उन्हें अपनाने का उपाय खोजने तक का कष्ट सहने को भी तैयार होना चाहिए। यह अहिंसा का मार्ग है। इसमें उत्तरोत्तर दुःख सहन का काम है, अटूट धीरज सीखने का काम है। और यह हो जाय तो

अन्त में चोर साहूकार बन जाता है, हमें सत्य के अधिक स्पष्ट दर्शन होते हैं। इस प्रकार हम जगत को मित्र बनाना सीखते हैं, ईश्वर की, सत्य की महिमा अधिक समझते हैं; संकट सहते हुए भी शांति सुख बढ़ता है, हममें साहस बढ़ता है, हम शाश्वत-अशाश्वत का भेद अधिक समझने लगते हैं, कर्तव्य अकर्तव्यका विवेक अच्छा लगने लगता है, गर्व गल जाता है, नम्रता बढ़ती है, परिग्रह अपने आप घट जाता है और देह में भरा हुआ मैल रोज-रोज कम होता जाता है।

यह अहिंसा वह स्थूल वस्तु नहीं है जिसे आज हम देखते हैं। किसी को न मारना तो है ही। बुरे विचारमात्र हिंसा है, उतावली (जल्द-बाजी) हिंसा है, मिथ्याभाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना हिंसा है, जगत् के लिए जो वस्तु आवश्यक है उस पर

कब्जा रखना भी हिंसा है। लेकिन हम जो खाते हैं वह जगत् के लिए आवश्यक है, जहाँ खड़े हैं वहाँ सैकड़ों सूक्ष्म जीव पड़े पैरों तले कुचले जाते हैं, यह जगह उनकी है। तो फिर क्या आत्म-हत्या करलें ? तो भी निस्तार नहीं। विचार में देह का संसर्ग छोड़ दें तो अन्त में देह हमें छोड़ देगी। यह मोह रहित स्वरूप सत्यनारायण है। यह दर्शन अधीरता से नहीं होते। यह देह हमारी नहीं है, हमें मिली हुई धरोहर है ऐसा समझ कर इसका उपयोग करते हुए हमें आगे बढ़ना चाहिए।

मुझे लिखना तो था आसान, लिखा गया मुश्किल। तथापि जिसने अहिंसा का थोड़ा भी विचार किया होगा उसे समझने में कठिनाई न पड़नी चाहिए।

इतना सब समझ लें कि अहिंसा बिना सत्य की खोज असम्भव है। अहिंसा और सत्य

सिक्के की दोनों बाजुओं या चिकनी चकती के दोनों पहलुओं की भाँति बिलकुल एक समान हैं, उसमें उल्टे-सीधे की पहचान कैसे हो? तथापि अहिंसा को साधन और सत्य को साध्य मानना चाहिए। साधन हमारे हाथ की बात है; इससे अहिंसा परम धर्म मानी गई। सत्य परमेश्वर हुआ। साधन की चिन्ता करते रहेंगे तो साध्य के दर्शन किसी दिन कर ही लेंगे। इतना निश्चय कर लिया तो जग जीत लिया। हमारे मार्ग में चाहे जितने संकट आवें, बाह्य दृष्टि से हमारी चाहे जितनी हार होती दिखाई दे, तो भी हमें विश्वास न छोड़कर एक ही मन्त्र जपना चाहिए :—सत्य है, वही है, वही एक परमेश्वर है। उसके साक्षात्कार का एक ही मार्ग-एक ही साधन-अहिंसा है, उसे कभी न छोड़ूंगा। जिस सत्यरूप परमेश्वर के नाम से यह प्रतिज्ञा की है वह उसके पालन करने का बल दे।

ब्रह्मचर्य

मंगलप्रभात

५-८-३०

हमारे व्रतों में तीसरा व्रत ब्रह्मचर्य का है। वास्तव में तो दूसरे सभी व्रत एक सत्य के व्रत में से ही उत्पन्न होते हैं और उसीके लिए उनका अस्तित्व है। जिसने सत्य का आश्रय लिया है, उसीकी उपासना करता है, वह दूसरी किसी भी वस्तु की आराधना करे तो व्यभिचारी बन गया। फिर विकार की आराधना तो की ही कैसे जासकती है? जिसकी सारी प्रवृत्तियाँ एक सत्य के दर्शन के लिए ही हैं वह सन्तान उत्पन्न करने या घर गिरस्ती

चलाने में पड़ ही कैसे सकता है ? भोगविलास द्वारा किसीको सत्य प्राप्त होने की आजतक एक भी मिसाल हमारे पास नहीं है।

अहिंसा के पालन को लें तो उसका पूरा-पूरा पालन भी ब्रह्मचर्य के बिना असाध्य है। अहिंसा अर्थात् सर्व-व्यापी प्रेम। जिस पुरुष ने एक स्त्री को या स्त्री ने एक पुरुष को अपना प्रेम सौंप दिया उसके पास दूसरे के लिए क्या बच गया ? इसका अर्थ ही यह हुआ कि 'हम दो पहले और दूसरे सब बाद को।' पतिव्रता स्त्री पुरुष के लिए और पत्नीव्रती पुरुष स्त्री के लिए सर्वस्व होमने को तैयार होगा, इससे यह स्पष्ट है कि उससे सर्वव्यापी प्रेम का पालन हो ही नहीं सकता। वह सारी सृष्टिको अपना कुटुम्ब बना ही नहीं सकता, क्योंकि उसके पास उसका अपना माना हुआ एक कुटुम्ब मौजूद है या तैयार हो रहा है। जितनी उसकी वृद्धि उतना

ही सर्वव्यापी प्रेम में विक्षेप होगा। सारे जगत् में हम यही होता हुआ देख रहे हैं। इसलिए अहिंसाव्रत का पालन करनेवाला विवाह के बन्धन में नहीं पड़ सकता; विवाह के बाहर के विकार की तो बात ही क्या?

तब जो विवाह कर चुके हैं उनकी गति? उन्हें सत्य की प्राप्ति कभी न होगी? वे कभी सर्वार्पण नहीं कर सकते? हमने इसका रास्ता निकाला ही है:—विवाहित अविवाहित-सा हो जाय। इस बारे में इससे बढ़कर मुझे दूसरी बात नहीं मालूम हुई। इस स्थिति का मजा जिसने चखा है, वह गवाही दे सकता है। आज तो इस प्रयोग की सफलता सिद्ध हुई कही जा सकती है। विवाहित स्त्री-पुरुष का एक दूसरेको भाई बहन मानने लगजाना सारे झगड़ों से मुक्त हो जाना है। संसार भर की सारी स्त्रियाँ बहनें हैं, माता हैं, लड़की हैं—यह विचार ही मनुष्य

को एकदम ऊँचा ले जानेवाला है, बन्धन से मुक्त कर देनेवाला हो जाता है। इसमें पति-पत्नी कुछ खोते नहीं, उलटे अपनी पूँजी बढ़ाते हैं, कुटुम्ब बढ़ाते हैं, प्रेम भी विकार रूप मैल के निकालने से बढ़ता है। विकार चले जाने से एक दूसरे की सेवा भी अधिक अच्छी हो सकती है, एक दूसरे के बीच कलह के अवसर कम होते हैं। जहाँ स्वार्थी, एकांगी प्रेम है, वहाँ कलह के लिए ज्यादा गुञ्जाइश है।

उपरोक्त प्रधान विचार कर लेने और उसके हृदय में बैठ जाने के बाद ब्रह्मचर्य से होने वाले शारीरिक लाभ, वीर्य-रक्षा आदि बहुत गौड़ हो जाते हैं। जान बूझकर भोग-विलास के लिए वीर्य खोना और शरीर को निचोड़ना कितनी बड़ी मूर्खता है? वीर्य का उपयोग तो दोनों की शारीरिक और मानसिक शक्ति को बढ़ानेके लिए है। विषय-भोग में उसका उपयोग

करना उसका अति दुरुपयोग है, और इस कारण वह बहुतेरे रोगों की जड़ बन जाता है।

ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन मन, वचन और काया से होना चाहिए। सारे व्रतों के विषय में यही बात है। हमने गीता में पढ़ा है कि जो शरीर को वश में रखता हुआ जान पड़ता है, पर मन से विकार का पोषण किया करता है, वह मूढ़ मिथ्याचारी है। सबको इसका अनुभव होता है। मन को विकारी रहने देकर शरीर को दबाने की कोशिश करना हानिकर ही है। जहाँ मन है, वहाँ अन्तको शरीर भी घसिटाये बिना नहीं रहता। यहाँ एक भेद समझ लेना जरूरी है। मन को विकारवश होने देना एक बात है, और मन का अपने आप, अनिच्छा से, बलात् विकार को प्राप्त हो जाना या होते रहना दूसरी बात है। इस विकार में यदि हम सहायक न बनें तो अन्त में जीत ही है। हम प्रतिपल यह

अनुभव करते हैं कि शरीर तो काबू में रहता है, पर मन नहीं रहता। इसलिए शरीर को तुरन्त ही वश में करके मन को वश में करने का हम सतत यत्न करते रहें तो हमने अपने कर्त्तव्य का पालन कर दिया। हम मन के अधीन हुए कि शरीर और मन में विरोध खड़ा हो जाता है, मिथ्याचार का आरम्भ हो जाता है। पर कह सकते हैं कि मनोविकार को दबाते ही रहने तक दोनों साथ-साथ जानेवाले हैं।

इस ब्रह्मचर्य का पालन बहुत कठिन, लग-भग असंभव माना गया है। इसके कारण की खोज करने से मालूम होता है कि ब्रह्मचर्य का संकुचित अर्थ किया गया है। जननेंद्रिय-विकार के विरोधमात्र को ही ब्रह्मचर्य का पालन मान लिया गया है। मेरी राय में यह अधूरी और गलत व्याख्या है। विषयमात्र का निरोध ही ब्रह्मचर्य है। जो और-और इन्द्रियों को जहाँ-

तहाँ भटकने देकर केवल एक ही इन्द्रिय को रोकने का प्रयत्न करता है वह निष्फल प्रयत्न करता है, इसमें सन्देह क्या है? कान से विकार की बातें सुनना, आँख से विकार उत्पन्न करनेवाली वस्तु देखना, जीभ से विकारोत्तेजक वस्तु का स्वाद लेना, हाथ से विकारों को उभारनेवाली चीज़ को छूना और जननेन्द्रिय को रोकने का इरादा रखना, यह तो आग में हाथ डालकर जलने से बचने का यत्न करने जैसा है। इसलिए जो जननेन्द्रिय को रोकने का निश्चय करे उसका सभी इन्द्रियों को अपने-अपने विकारों से रोकने का निश्चय पहले किया हुआ होना चाहिए। मुझे सदा ऐसा जान पड़ा है कि ब्रह्मचर्य की संकुचित व्याख्या से नुक़सान हुआ है। मेरा तो यह निश्चित मत है और अनुभव है कि यदि हम सब इन्द्रियों को एक साथ वश में करने का अभ्यास करें तो जननेन्द्रिय

को वश में करने का प्रयत्न शीघ्र ही सफल हो सकता है। इनमें मुख्य वस्तु स्वादेन्द्रिय है। इसीलिए उसके संयम को हमने पृथक् स्थान दिया है। उस पर अगली वार विचार करेंगे।

ब्रह्मचर्य के मूल कर्म को सब याद रक्खें। ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की–सत्य की–शोध में चर्या, अर्थात् तत् सम्बन्धी आचार। इस मूल अर्थ से सर्वेन्द्रिय-संयम का विशेष अर्थ निकलता है। केवल जननेन्द्रिय-संयम के अधूरे अर्थ को तो हमें भूल ही जाना चाहिए।

अस्वाद

मङ्गलप्रभात

१२-८-३०

ब्रह्मचर्य से यह व्रत बहुत घनिष्ट सम्बन्ध रखनेवाला है। मेरा अनुभव ऐसा है कि इस व्रत का पालन किया जा सके तो ब्रह्मचर्य अर्थात् जननेन्द्रिय-संयम बिलकुल सहज हो जाय। परन्तु साधारणतया इसे व्रत में प्रथक् स्थान नहीं दिया जाता। स्वाद को बड़े-बड़े मुनिवर भी नहीं जीत सके, इसीलिए इस व्रत को प्रथक् स्थान नहीं मिला। यह तो केवल मेरा अनुमान है। ऐसा हो या न हो, पर हम लोगों ने इस व्रत को पृथक् स्थान दिया है, इसलिए इस पर स्वतंत्र रूप से विचार कर लेना उचित है।

अस्वाद का अर्थ होता है स्वाद न लेना।

स्वाद् माने रस। जिस तरह दवा खाते समय वह स्वादिष्ट है या नहीं, इसका विचार नहीं करते, वल्कि शरीर को उसकी आवश्यकता है यह समझकर उसे उचित परिणाम में ही खाते हैं, उसी तरह अन्न के विषय में समझना चाहिए। अन्न से मतलब समस्त खाद्य पदार्थों से है। इसलिए यहाँ दूध और फल उसमें आ जाते हैं। जैसे दवा नियत परिमाण से कम खाने पर लाभ नहीं होता अथवा कम होता है और अधिक परिमाण में खाने से हानि होती है, वैसे ही अन्न के सम्बन्ध में है। इसलिए किसी भी वस्तु को स्वाद के लिए चखना व्रत का भंग है। स्वादिष्ट लगनेवाली वस्तु अधिक परिमाण में लेना तो अनायास व्रत का भंग हो गया। इससे यह समझा जा सकता है कि किसी चीज का स्वाद वढ़ाने या वदलने के लिए अथवा उसका अस्वाद मिटाने के लिए

उसमें नमक मिलाना व्रत भंग है। परन्तु यदि हम जानते हों कि अन्न में अमुक परिमाण में नमक की जरूरत है और इस कारण उसमें नमक मिलावें, तो इसमें व्रत भंग नहीं है। शरीर पोषण के लिए आवश्यकता न होने पर भी मन को ठगने के लिए आवश्यकता का आरोपण करके कोई चीज बढ़ा लेना तो मिथ्याचार मानना चाहिए।

इस दृष्टि से विचार करने पर हमें मालूम होगा कि कितनी ही चीजें जिन्हें हम खाते हैं वे हमारी शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक न होने के कारण त्याज्य हो जाती हैं। और जिससे इस प्रकार अगणित चीजों का अनायास त्याग हो जाय, तो उसके समस्त विकार शान्त हो जाँय। "तोले भर की जीभ तेरह चीजें मांगती है" "पेट चाहे जो करावे" इन सब वचनों में बहुत अर्थ छिपा हुआ है। इस विषय पर कम

ध्यान दिया गया है कि व्रत की दृष्टि से आहार का चुनाव प्रायः असम्भव हो गया है। इसके सिवा बचपन से ही माता-पिता अनुचित प्रेम के कारण, तरह-तरह के स्वाद करा-कराकर शरीर को बिगाड़ डालते हैं और जीभ को चटोरी बना देते हैं, जिससे बड़े होने पर लोग शरीर से रोगी और स्वाद की दृष्टि से महा विकारी दिखाई देते हैं। इसका कटु फल हम पद-पद पर अनुभव करते हैं, बड़े खर्चे में पड़ते हैं, वैद्य डाक्टरों की खुशामद करते हैं और शरीर तथा इन्द्रियों को वश में रखने के बदले उनके गुलाम बनकर अपंग की तरह जीते हैं। एक अनुभवी वैद्य का कथन है कि उसने संसार में एक भी नीरोग मनुष्य को नहीं देखा। ज़रा भी स्वाद के फेर में पड़े कि शरीर चौपट हुआ और उसी क्षण से उस शरीर के लिए उपवास की आवश्यकता उत्पन्न हुई।

इस विचार धारा से किसीको घबड़ाने की जरूरत नहीं है। अस्वाद व्रत की भयङ्करता देखकर उसे त्याग देने की भी जरूरत नहीं। जब हम कोई व्रत धारण करते हैं तो उसका अर्थ यह नहीं होता कि हम उसी समय से उसका पूर्ण रूप से पालन करने लग गये। व्रत धारण करने का अर्थ होता है संपूर्ण रूप से उसके पालन का सच्चा दृढ़ और मरणान्त मन, वचन और कर्म से प्रयत्न करना। कोई व्रत कठिन है इसलिए उसकी परिभाषा ढीली करके मन को धोखा न देना चाहिए। अपनी सुविधा के लिए आदर्श को गिराना असत्य है, अपना पतन है। आदर्श को स्वतंत्र रूप से जानकर, वह चाहे जितना कठिन हो, फिर भी उसे प्राप्त करने का जी जान से प्रयत्न करना, यही परम अर्थ है—पुरुषार्थ है। पुरुष का अर्थ केवल 'नर' न करके मूल अर्थ करना चाहिए। 'पुर' अर्थात्

शरीर में जो रहे वह पुरुष। ऐसा अर्थ करने से पुरुषार्थ शब्द स्त्री-पुरुष दोनों के लिए व्यवहार किया जा सकता है। जो तीनों काल में संपूर्ण रूप से महाव्रतों का पालन करने में समर्थ है, उसे इस जगत में कुछ भी करने को नहीं रहा, वह भगवान् है, वह मुक्त है। हम लोग तो अल्प मुमुक्षु, जिज्ञासु, सत्य का आग्रह रखनेवाले उसको खोज करनेवाले प्राणी हैं। इसलिए गीता की भाषा में, धीरे-धीरे किन्तु अतन्द्रित रहकर उद्योग करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते किसी दिन प्रभु के प्रसाद के योग्य हो जायँगे और तब हमारे समस्त रस भस्म हो जायँगे।

यदि हमने अस्वाद व्रत का महत्व समझ लिया हो, तो हमें उसके पालन के लिए नया प्रयत्न करना चाहिए। इसके लिए चौबीसों घण्टे खाने के ही बारे में सोचते रहने की जरू-

रत नहीं होती, सिर्फ सावधानी की, जागृति की परम आवश्यकता रहती है। ऐसे करने से कुछ ही दिनों में हमें यह मालूम हो जायगा कि हम कब स्वाद के फेर में पड़ जाते हैं और कब शरीर-पोषण के लिए खाते हैं। यह मालूम हो जाने पर हमें दृढ़ता पूर्वक स्वादों को घटाते ही जाना चाहिए। इस दृष्टि से विचार करने पर शामिल रसोई जो अस्वाद वृत्ति से बनती हो, बहुत सहायक है। यहाँ रोज इसका विचार नहीं करना पड़ता, कि आज हम क्या खायँगे या क्या पकायेंगे। जो बना हो और जो अपने लिए त्याज्य न हो उसे ईश्वर का अनुग्रह मानकर, मन में भी उसके भले-बुरे होने की आलोचना न कर, सन्तोष-पूर्वक शरीर के लिए जितना आवश्यक हो, उतना खा लेना चाहिए। ऐसा करनेवाला अनायास अस्वाद व्रत का पालन करता है। संयुक्त रसोई बनानेवाले हमारा

भार हलका करते हैं। हमारे व्रत के वे रक्षक बनते हैं। स्वाद की दृष्टि से वे कुछ भी न बनायें, केवल समाज के शरीर का पोषण करने के लिए ही रसोई बनावेंगे। वास्तव में आदर्श अवस्था में अग्नि की आवश्यकता कम से कम या बिलकुल ही नहीं है। सूर्य रूपी महाअग्नि जिन चीजों को पकाती है, उन्हीं में से हमारे खाद्य का चुनाव होना चाहिए। और इस प्रकार के विचार से सिद्ध होता है कि मनुष्य प्राणी केवल फलाहारी है; परन्तु यहाँ इतने गहरे में उतरने की जरूरत नहीं। यहाँ तो केवल इसी बात पर विचार करना है कि अस्वाद व्रत क्या है, उस में कौन-कौन सी कठिनाइयाँ हैं या नहीं हैं और उसका ब्रह्मचर्य पालन के साथ कितना अधिक निकट सम्बन्ध है। इतना समझ में आ जाने पर सबको यथाशक्ति इस व्रत के पालन का शुभ प्रयत्न करना चाहिए।

अस्तेय

मंगलप्रभात

१९-८-३०

अब हम अस्तेयव्रत पर आते हैं। गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर हमें मालूम होगा कि सभी व्रत सत्य और अहिंसा अथवा सत्य के गर्भ में स्थित हैं। वे इस प्रकार दिखाये जा सकते हैं—
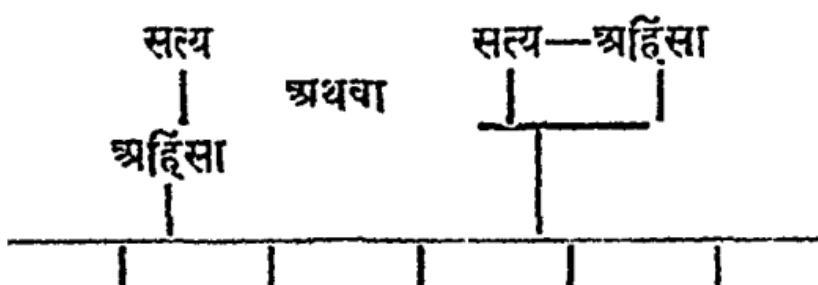
ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय इत्यदि जितना बढ़ायें उतना।

या तो सत्य से अहिंसा की उत्पत्ति माननी चाहिए या सत्य और अहिंसा का जोड़ा

मान लें। दोनों एक ही वस्तु हैं। फिर भी मेरा मन पहले की ओर झुकता है। और अन्तिम अवस्था जोड़े से, द्वन्द्वसे अतीत है। परम सत्य अकेला खड़ा होता है। सत्य साध्य है, अहिंसा साधन है। अहिंसा क्या है यह हम जानते हैं; पालन कठिन है। सत्य का तो अंशमात्र जानते हैं; पूर्ण रूप से जानना देही के लिए कठिन है, जैसे अहिंसा का पूर्ण पालन देही के लिए कठिन है।

अस्तेय का अर्थ है चोरी न करना। ऐसा कोई नहीं कह सकता कि चोरी करनेवाला सत्यको जान सकता है या प्रेमधर्म का पालन कर सकता है। फिर भी चोरी का दोष हम सभी थोड़ा बहुत जाने अनजाने करते हैं। दूसरे की वस्तु बिना उसकी आज्ञा के लेना तो चोरी है ही। परन्तु अपनी मानी जाने वाली चीजों की भी मनुष्य चोरी करता है:—जैसे

एक बाप अपने बच्चों के अनजान में, उनसे छिपाने की नीयत से गुपचुप कोई चीज खा लेता है। यह कहा जा सकता है कि आश्रम का भण्डार हम सभी का है, परन्तु उसमें से जो चुपके से गुड़ की एक कंकड़ी भी लेता है वह चोर है। एक बालक दूसरे की कलम लेता है वह चोरी करता है। जिसकी वस्तु हो वह जानता हो तो भी उसकी आज्ञा के बिना उसकी चीज़ लेना भी चोरी है। किसी चीज़ को लावारिस माल समझकर ले लेना भी चोरी है। अर्थात् रास्ते में पड़ी मिली चीज के मालिक हम नहीं बल्कि उस प्रदेश का राजा या वहाँ की सरकार होती है। आश्रम के पास मिली कोई भी वस्तु आश्रम के मन्त्री को सौंप देनी चाहिए। और मन्त्री, यदि वह आश्रम की न हो तो पुलिस के हवाले कर दे।

यहाँ तक समझना तो एक तरह से सहज

ही है। परन्तु, अस्तेय इससे बहुत आगे बढ़ जाता है। जिस चीज़ की हमें जरूरत नहीं है, उसे जिसके अधिकार में वह हो उसके पास से उसकी आज्ञा लेकर भी लेना चोरी है। अनावश्यक एक भी वस्तु न लेनी चाहिए। ऐसी चोरी संसार में सबसे अधिक खाद्य पदार्थों के सम्बन्ध में होती है। मुझे अमुक फल की ज़रूरत नहीं है, फिर भी मैं उसे लेता हूँ अथवा ज़रूरत से अधिक लेता हूँ, तो यह चोरी है। मनुष्य सदा यह नहीं जानता कि वस्तुत: उसे कितनी जरूरत है और प्राय: हम सभी, जितनी होनी चाहिए, उससे ज्यादा ही अपनी ज़रूरतें बढ़ा लेते हैं। इससे हम अनजान में चोर बनते हैं। विचार करने पर हम देखेंगे कि अपनी बहुतेरी आवश्यकतायें हम घटा सकते हैं। अस्तेय व्रत पालन करनेवाला उत्तरोत्तर अपनी आवश्यकतायें घटाता जायगा।

इस संसार में अधिकांश निर्धनता अस्तेय के भङ्ग से उत्पन्न हुई है।

उपरोक्त सभी चोरियों को बाह्य अथवा शारीरिक चोरी समझना चाहिए। इससे सूक्ष्म और आत्मा को नीचे गिराने या रखनेवाली चोरी मानसिक है। मनसे हमने किसीकी वस्तु प्राप्त करने की इच्छा की या उसपर जूठी नजर डाली तो वह चोरी है। सयाने या बच्चे कोई अच्छी चीज देखकर ललचायें तो वह मानसिक चोरी है। उपवास करने वाला शरीर से तो नहीं खाता, पर दूसरों को खाते देखकर मन से स्वाद का सेवन करता है, तो वह चोरी करता है, और अपने उपवास का भंग करता है। जो उपवासी उपवास तोड़ते मन में भोजन के ही मन्सूबे करता रहता है, कहा जा सकता है कि वह अस्तेय और उपवास का भङ्ग करता है। अस्तेय व्रत का पालन

करनेवाला भविष्य में प्राप्त होनेवाली वस्तुओं के हवाई महल नहीं उठाता रहता। अनेक चोरियों के मूल में यह लालची इच्छा मौजूद दिखाई देगी। आज जो केवल विचारभर में ही है, उसे प्राप्त करने के लिए कल हम भले-बुरे उपायों से काम लेने लग जायँगे।

और जिस तरह वस्तु की चोरी होती है उसी तरह विचार की भी चोरी होती है। कोई खास उत्तम विचार अपने मन में उत्पन्न न हुआ हो, तो भी जो अहङ्कारवश अपने को उस विचार का प्रथमकर्ता बताता है वह विचार की चोरी करता है। ऐसी चोरी अनेक विद्वानों ने भी संसार के इतिहास में की है और वह अब भी जारी है। मान लीजिए कि मैंने आन्ध्र में नये ढङ्ग का चरखा देखा। वैसा चरखा मैंने आश्रम में बनाया और फिर कहूँ कि यह तो मेरा आविष्कार है तो इसमें मैं स्पष्ट रूप से

दूसरे के आविष्कार की चोरी करता हूँ, असत्य का सहारा तो लेता ही हूँ।

इसलिए अस्तेय व्रत का पालन करनेवाले को बहुत नम्र, बहुत विचारशील, बहुत सावधान और बहुत सादगी से रहना पड़ता है।

अपरिग्रह

मंगलप्रभात

२६-८-३०

अपरिग्रह अस्तेय से सम्बन्धित समझना चाहिए। जो वास्तव में चुराया हुआ नहीं है वह अनावश्यक संग्रह करने से चोरी का सा माल हो जाता है। परिग्रह का अर्थ है संचय या इकट्ठा करना। सत्य-शोधक, अहिंसक परिग्रह नहीं कर सकता। परमात्मा परिग्रह नहीं करता। उसे 'चाही' वस्तु वह रोज की रोज पैदा करता है। इसलिए यदि हम उस पर विश्वास रखें तो हमें समझना चाहिए कि हमें आवश्यक चीजें वह प्रति दिन देता है, देगा।

औलियाओं का, भक्तों का यह अनुभव है। प्रतिदिन की आवश्यकता भर ही प्रति दिन उत्पन्न करने के ईश्वरीय नियम को हम नहीं जानते, अथवा जानते हुए भी पालते नहीं हैं। इससे संसार में विषमता और उससे उत्पन्न होनेवाले दुःखों का अनुभव करते हैं। धनियों के यहाँ कितनी ही चीजें जिनकी उनको जरूरत नहीं होती भरी रहती हैं, मारी मारी फिरती हैं, खराब हो जाती हैं, जब कि उनके अभावों में करोड़ों मनुष्य भटकते फिरते हैं, भूखों मरते हैं, जाड़े से ठिठुरते हैं। सब लोग अपनी आवश्यकता भर ही संग्रह करें, तो किसीको तङ्गी न पड़े और सबको सन्तोष रहे। आज तो दोनों तङ्गी अनुभव करते हैं। करोड़पति अरबपति होने की चेष्टा करता है, फिर भी उसे सन्तोष नहीं रहता। कङ्गाल करोड़पति होना चाहता है; दरिद्र को केवल पेट भरने भर को

ही मिलने से सन्तोष होता दिखाई नहीं देता। परन्तु दरिद्र को अपने पेट भर पाने का अधिकार है, और उसे उतना प्राप्त करा देना समाज का धर्म है। इसलिए उसके और अपने सन्तोष के लिए धनी को अगुआ होना चाहिए। वह अपने अत्यन्त परिग्रह का त्याग करे तो दरिद्र को उसकी अवश्यकता भर आसानी से मिल जाय और दोनों पक्ष सन्तोष का सबक़ सीखें। आदर्श आत्यन्तिक अपरिग्रह तो उसीका होगा जो मन से और कर्म से दिगम्बर है। मतलब, वह पक्षी की भांति बिना घर के, बिना वस्त्रों के और बिना अन्न के विचरण करेगा। अन्न तो उसे प्रति दिन चाहिए सो भगवान् देता रहेगा। इस अवधूत अवस्था को तो विरले ही पहुंच सकते हैं। हम साधारण कोटि के सत्याग्रहियों को, जिज्ञासुजनों को तो आदर्श को ध्यान में रखकर नित्य अपने परिग्रह की जाँच करते

रहना चाहिए और जैसे बने वैसे उसे घटाते रहना चाहिए। सच्चे सुधार का, सच्ची सभ्यता का लक्षण परिग्रह बढ़ाना नहीं है, बल्कि उसका विचार और इच्छा पूर्वक घटाना है। ज्यों-ज्यों परिग्रह घटाइए त्यों-त्यों सच्चा सुख और सच्चा सन्तोष बढ़ता है, सेवाशक्ति बढ़ती है। इस प्रकार विचार और आचरण करने पर हमें मालूम होगा कि हम लोग आश्रम में बहुतसा संग्रह ऐसा करते हैं, कि जिसकी आवश्यकता सिद्ध नहीं कर सकते और ऐसे अनावश्यक परिग्रह से पड़ोसी को चोरी करने के लालच में फँसाते हैं। अभ्यास से मनुष्य अपनी आवश्यकताओं को घटा सकता है; और ज्यों घटाता है, त्यों वह सुखी, शान्त और सब तरह से आरोग्य-वान होता है। केवल सत्य की, आत्मा की दृष्टि से विचार करने से तो शरीर भी परिग्रह है भोगेच्छा से हमने शरीर का आवरण खड़ा

किया है और उसे कायम रखते हैं। भोगेच्छा अत्यन्त क्षीण हो जाय तो शरीर की आवश्यकता मिट जाय, मनुष्य को नया शरीर धारण करने को न रह जाय। आत्मा सर्वव्यापक है तो शरीर रूपी पिंजड़े में कैसे बन्द रह सकता है, इस पिंजड़े को बनाए रखने के लिए अनर्थ कैसे कर सकता है? दूसरों को कैसे मार सकता है? इस प्रकार विचार करते हुए हम आत्यन्तिक त्याग के पास पहुँचते हैं और शरीर है तबतक उसका उपयोग केवल सेवा के लिए करना सीखते हैं; यहाँतक कि उसकी वास्तविक खुराक सेवा ही हो जाती है। उसका खाना, पीना, लेटना, बैठना, जागना, ऊँघना सब सेवा ही के लिए होता है। इससे जो सुख उत्पन्न होता है, वह वास्तविक सुख है और ऐसा करते हुए मनुष्य अन्त में सत्य की झाँकी करेगा। इसी दृश्य से हम सबको अपने परिग्रह पर विचार

कर लेना चाहिए।

इतना याद रखने योग्य है कि वस्तुओं की भाँति विचार का भी अपरिग्रह होना चाहिए। जो मनुष्य अपने दिमाग़ में निरर्थक ज्ञान भर लेता है वह परिग्रही है। जो विचार हमें ईश्वर से विमुख रखते हों, अथवा ईश्वर के प्रति न ले जाते हों, वे सभी परिग्रह में आ जाते हैं और इसलिए त्याज्य हैं। ज्ञान की ऐसी परिभाषा भगवान ने गीताके तेरहवें अध्याय में दी है वह यहाँ ख़याल में लानी चाहिए। अमानित्व इत्यादि को गिनाकर कह दिया कि उसके बाहर का जो सब है वह अज्ञान है। यह सत्य वचन हो—और सत्य है ही, तो आज हम बहुत कुछ जो ज्ञान के नाम से बटोरते हैं, वह अज्ञान ही है और उससे लाभ के बदले हानि होती है; दिमाग़ फिर जाता है, अन्त में ख़ाली हो जाता है; असन्तोष फैलता है और अनर्थ

बढ़ते हैं । इससे कोई मंदता का अर्थ न निकाले। प्रत्येक क्षण प्रवृत्तिमय होना चाहिए। पर वह प्रवृत्ति सात्त्विक होनी चाहिए, सत्य की ओर लेजानेवाली होनी चाहिए। जिसने सेवा धर्म को स्वीकार किया है, वह एक क्षण भी मन्द रह नहीं सकता। यहाँ तो सारासार का विवेक सीखना है। सेवा परायण को यह विवेक सहज प्राप्त है।

अभय

मंगलप्रभात

२--९--३०

इसकी गणना गीता के सोलहवें अध्याय में दैवी सम्पद् का वर्णन करते हुए भगवान ने सबसे पहले की है। यह श्लोक संगति की सुविधा के लिए किया गया है या अभय को प्रथम स्थान मिलना चाहिए इसलिए है, इस विवाद में मैं नहीं उतरता; ऐसा निर्णय करने की मुझमें योग्यता भी नहीं है। मेरी समझ में अभय को योंही प्रथम स्थान मिल गया हो, तो भी वह उसके योग्य ही है। अभय विना दूसरी सम्पत्तियाँ नहीं मिल सकतीं। अभय के बिना सत्य की खोज कैसे संभव है? अभय बिना अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है? 'हरि का मारग है

शूरों का नहीं वहाँ कायर का काम।'सत्य ही हरि है, वही राम है, वही नारायण है, वही वासुदेव है, कायर माने भयभीत, डरपोक; वीर का अर्थ है भयमुक्त, ढाल तलवार बांधे नहीं। तलवार शूरता की निशानी नहीं है, भीरुता का चिह्न है।

अभय अर्थात् बाहरी सब भयों से मुक्ति-मौत का भय, धन-दौलत लुट जाने का भय, कुटुम्ब परिवारविषयक भय, रोग का भय, शस्त्र-प्रहार का भय, इज्जत आबरू का भय, किसी के बुरा मानने का भय इस प्रकार भय की पीढ़ी जितनी बढ़ायें बढ़ सकती है। साधारणतः यह कहा जाता है कि एक मात्र मृत्यु भय को जीत लिया तो सब भय जीत लिये, परन्तु यह ठीक नहीं जान पड़ता। बहुतेरे मौत का भय छोड़ देते हैं, फिर भी अनेक प्रकार के दुःखों से भागते हैं। कोई खुद मरने को तैयार होते हैं पर स्वजनस्नेहियों का वियोग सहन नहीं कर सकते।

कोई कंजूस यह सब छोड़ देगा देह छोड़ देगा पर बटोरा हुआ धन छोड़ने में कातर हो जायगा। कोई स्वकल्पित मान प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए बहुत कुछ सियाह-सफेद करने के लिए तैयार हो जायगा और करेगा। संसार की निन्दा के भय से कोई सीधा मार्ग जानते हुए भी उसे पकड़ते हिचकिचायगा। सत्य की खोज करने वाले का इन समस्त भयों को तिलांजलि दिये ही निस्तार है। हरिश्चन्द्र की भाँति मिट जाने की उसमें तैयारी होनी चाहिए। हरिश्चन्द्र की कथा भले ही कल्पित हो, परन्तु सारे आत्मार्थियों का यह अनुभव है, इसलिए उस कथा का मूल्य किसी भी ऐतिहासिक कथा की अपेक्षा अनन्त गुना अधिक है और हम सबके लिए वह संग्रह तथा मनन करने योग्य है।

अभयव्रत का सर्वथा पालन लगभग अशक्य है। भयमात्र से मुक्ति तो, जिसे आत्म-

साक्षात्कार हुआ हो वही पा सकता है। अभय, मोहरहित अवस्था की पराकाष्ठा है। निश्चय करने से, सतत प्रयत्न करने से और आत्मा पर श्रद्धा बढ़ने से अभय की मात्रा बढ़ सकती है। मैंने आरम्भ में ही कहा है, कि हमें बाहरी भयों से मुक्ति प्राप्त करनी है। भीतर जो शत्रु मौजूद हैं उनसे तो डरके ही चलना है। काम क्रोधादि का भय वास्तविक भय है। उन्हें जीत लेने से बाह्य भयों का उपद्रव अपने आप मिट जाता है। भय मात्र देह के साथ हैं। देहविषयक राग दूर हो जाय तो अभय सहज प्राप्त हो जाय। विचार करने पर हमें मालूम होता है कि भय मात्र हमारी कल्पना की सृष्टि है। धन से, परिवार से, शरीर से 'अपनापन' हटा दें तो फिर भय कहाँ ? 'तेनत्यक्तेन भुञ्जीथाः।' यह रामबाण वचन है। कुटुम्ब, धन, देह जैसे के तैसे रहेंगे केवल इनके सम्बन्ध की अपनी

कल्पना हमें बदल देनी है। ये 'हमारे' नहीं; ये 'मेरे' नहीं; ये ईश्वर के हैं; 'मैं' भी उसीका हूँ; 'मेरा' कहलानेवाली इस संसार में कोई भी वस्तु नहीं। फिर मुझे भय किस बात में हो सकता है? इसीलिए उपनिषद्कार ने कहा है कि 'उसका त्याग करके उसे भोग।' अर्थात् हम उसके रक्षक बनें। वह उसकी रक्षा करने भर की ताकत और सामग्री दे देगा। यों स्वामी न रहकर हम सेवक हो जायँ, शून्यवत् होकर रहें तो अनायास भयमात्र को जीत लें, अनायास शान्ति प्राप्त करें सत्यनारायण के दर्शन पावें।

अस्पृश्यतानिवारण

मंगलप्रभात

१-९-३०

यह व्रत भी अस्वादव्रत की तरह नया है और कुछ विचित्र भी लगता है। पर जितना विचित्र है, उससे अधिक आवश्यक है। अस्पृश्यता माने छूआछूत। यह जहाँ तहाँ धर्म में धर्म के नाम या बहाने से विघ्न डालती रहती है और धर्म को कलुषित करती है। यदि आत्मा एक ही है, ईश्वर एक ही है, तो अछूत कोई नहीं है। जिस प्रकार भङ्गी, चमार अछूत माने जाते हैं, पर अछूत नहीं हैं, उसी प्रकार मृत शरीर भी अस्पृश्य नहीं है, वह आदर और करुणा का पात्र है। मृत देह को स्पर्श करने, तेल मलने अथवा हजामत बनाने बनवाने के

बाद अगर हम नहाते हैं तो वह सिर्फ़ स्वास्थ्य की दृष्टि से। मृत देहको स्पर्शकर या तेल लगाकर जो न नहाये वह गन्दा भले ही कहा जाय, पर वह पातकी नहीं है, पापी नहीं है। यों तो बच्चे का मैला उठाकर माता जब तक न नहाये या हाथ पैर न धोये तबतक भले ही अस्पृश्य हो, पर बच्चा यदि खेलते-खेलते उसे छूले तो वह छुवा नहीं जाता, न उसका आत्मा मलिन होता। परन्तु जो तिरस्कार भावसे भङ्गी, चमार आदि नामों से पुकारा जाता है वह तो जन्म से ही अछूत माना जाता है। उसने भले ही मनों साबुन बरसों तक शरीर पर घिसा हो, भले ही वह वैष्णव कासा पहनावा रखता हो, भले ही माला कण्ठी धारण करता हो, भले ही नित्य गीता पाठ करता हो और भले ही लेखक का व्यवसाय करता हो फिर भी अछूत ही है। ऐसा जो धर्म माना या बरता जाता है वह धर्म

नहीं, अधर्म है और नाश के योग्य है। हम व्रतों में अस्पृश्यतानिवारण को स्थान देकर ऐसा मानते हैं कि अस्पृश्यता-छूआछूत हिन्दू धर्म का अङ्ग नहीं है, बल्कि उसमें घुसी हुई सड़न है, वहम है, पाप है और उसका निवारण करना प्रत्येक हिन्दू का धर्म है, परम कर्तव्य है। इसलिए जो उसे पाप मानते हैं, उन्हें चाहिए कि उसका प्रायश्चित्त करें, और कुछ नहीं तो प्रायश्चित्त रूप से भी धर्म समझ कर समझदार हिन्दू प्रत्येक अछूत माने जाने वाले भाई-बहन को अपनावें। प्रेम पूर्वक सेवाभाव से उसे स्पर्श करें, स्पर्श करके अपने को पवित्र हुआ समझें, अछूत के दुःख दूर करें। बरसों से वह कुचला गया है, इसलिए उसमें जो अज्ञानादि दोष आगये हैं, उन्हें दूर करने में धैर्यपूर्वक उसे सहायता दें और दूसरे हिन्दुओं को भी ऐसा ही करने के लिए राज़ी

करें, प्रेरित करें। अस्पृश्यता को देखते हुए उसे दूर करने में जो ऐहिक या राजनैतिक परिणाम हैं, उन्हें व्रतधारी तुच्छ गिनेगा। वे या वैसे परिणाम प्राप्त हों या न हों, फिर भी अस्पृश्यतानिवारण का व्रतरूप से आचरण करनेवाला अछूत गिने जानेवालों को धर्म समझकर अपनायेगा। सत्यादि का आचरण करते समय हमें ऐहिक फल का विचार न करना चाहिए। सत्याचरण व्रतधारी के लिए एक युक्ति नहीं है, वह तो उसके शरीर से जुड़ी हुई वस्तु है, उसका स्वभाव है; अस्पृश्यता निवारण भी उस व्रतधारी के लिए ऐसा ही है। इस अस्पृश्यता का महत्व समझ में आ जाने पर हमें मालूम होगा कि यह सड़न केवल भंगी, चमार कहे जानेवाले लोगों के ही विषय में घुस गई हो, सो बात नहीं है। सड़न का स्वभाव है कि वह पहले राई के बराबर दिखाई

देती हैं, पीछे पर्वत का रूप धारण कर लेती है और अन्त में जिसे लगती है, उसका नाश करती रहती है। छूआछूत के सम्बन्ध में भी यही बात है। यह छूआछूत विधर्मियों के प्रति दिखाई देती है, अन्य सम्प्रदायों के प्रति दिखाई देती है, एक ही सम्प्रदायवालों के बीच भी घुसगई है। यहाँ तक कि कुछ लोग तो छूआ-छूत का पालन करते-करते पृथ्वी पर भार रूप हो गए हैं। वे अपने को ही सम्हालने, अपने को ही पोसने-पालने, नहाने-धोने, खाने-पीने से फुर्सत ही नहीं पाते, ईश्वर के नाम पर ईश्वर को भूलकर वे अपने को ही पूजने लग गए हैं। इसलिए अस्पृश्यतानिवारण करनेवाला भंगी, चमार को अपनाकर ही सन्तोष न मान लेगा; वह जब तक जीवमात्र को अपने में न देखले और अपनेको जीवमात्र में न होम दे, तब तक शान्त होने का नहीं। अस्पृश्यता दूर करने

का अर्थ है समस्त संसार के साथ मित्रता रखना, उसका सेवक बनना। इस दृष्टि से देखने पर अस्पृश्यतानिवारण अहिंसा का जोड़ा बन जाता है और वस्तुतः वह है ही। अहिंसा के मानी हैं जीवमात्र के प्रति पूर्ण प्रेम। अस्पृश्यतानिवारण का भी यही अर्थ है। जीवमात्र के साथ का भेद मिटाना अस्पृश्यतानिवारण है। यों अस्पृश्यता को देखने पर यह दोष जरूर ही थोड़े बहुत अंशों में संसार भर में फैला हुआ है। पर यहाँ हमने उस पर हिन्दू धर्म में समाई हुई सड़न के रूप में विचार किया है क्योंकि हिन्दू धर्म में उसने धर्म का स्थान ले रक्खा है और धर्म के बहाने लाखों या करोड़ों मनुष्यों की अवस्था गुलामों जैसी बनादी है।

कायिकपरिश्रम

मङ्गलप्रभात

६-९-३०

कायिकपरिश्रम मनुष्य मात्र के लिए अनिवार्य है यह बात पहले-पहल मुझे टालस्टाय का एक निबन्ध पढ़कर हृदयंगम हुई। इतनी स्पष्ट रूप से इस बात को जानने के पहले उस-पर मैं अमल तो करने लगा था—रस्किन का 'अन्टु दिस लास्ट' पढ़ने के बाद फौरन ही। कायिकपरिश्रम अंग्रेजी शब्द 'ब्रेडलेबर का अनु-वाद है। 'ब्रेडलेबर' का शब्दशः अनुवाद होता है रोटी (के लिए) परिश्रम। रोटी के लिए प्रत्येक मनुष्य को मजूरी करनी चाहिए, हाथ पैर हिलाने चाहिए, यह ईश्वरी नियम है। यह मूल खोज टालस्टाय की नहीं है, पर उसकी

अपेक्षा बहुत अपरिचित रूसी लेखक बुनोंह की है। उसे टालस्टाय ने शोहरत देकर अपनाया। इसकी झाँकी मेरी आँखें भगवद्गीता के तीसरे अध्याय में कर रही हैं। यज्ञ किये बिना जो खाता है वह चोरी का अन्न खाता है। अयज्ञ के लिए यह कठिन शाप है। यहाँ यज्ञ का अर्थ कायिकपरिश्रम या 'रोटी परिश्रम' ही शोभा देता है और मेरे मतानुसार निकलता भी है। चाहे जो हो, यह हमारे इस व्रत की उत्पत्ति है। बुद्धि भी इस वस्तु की ओर हमें ले जाती है। जो मजूरी न करे उसे खाने का क्या अधिकार हो सकता है? बाइबल का कथन है, कि 'अपनी रोटी तू अपना पसीना बहाकर कमाना और खाना।' करोड़पति भी यदि अपने पलङ्ग पर पड़ा रहे और उसके मुँह में कोई खाना डाले तब वह खाय, तो वह बहुत दिनों तक न खा सकेगा, उसमें उसके लिए आनन्द

भी न रह जायगा। इसलिए वह व्यायामादि करके भूख उत्पन्न करता है और खाता तो है अपने ही हाथ-मुंह हिलाकर। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न आप से आप उठता है कि यदि इस तरह किसी न किसी रूप में राजा रंक सभी को शारीरिक व्यायाम करना ही पड़ता है तो रोटी पैदा करने की ही कसरत सब लोग क्यों न करें ? किसान से हवा खाने या कसरत करने को कोई नहीं कहता। और संसार के सैकड़े नव्वे से भी अधिक मनुष्यों का निर्वाह खेती से होता है। शेष दस प्रतिशत मनुष्य इनका अनुकरण करें तो संसार में कितने सुख, कितनी शान्ति और कितने स्वास्थ्य का प्रसार हो सकता है ? और खेती के साथ बुद्धि का मेल हो जाय, तो खेती के काम की अनेक कठिनाइयाँ आसानी से दूर हो जायँ। इसके सिवा यदि कायिकपरिश्रम के इस निरपवाद नियम

को सभी मानने लगें तो ऊँच-नीच का भेद दूर हो जाय। इस समय तो जहाँ उच्चता और नीचता की गन्ध भी न थी, वहाँ भी अर्थात् वर्णव्यवस्था में भी वह घुस गई है। मालिक मजदूर का भेद सर्वव्यापक हो गया है और ग़रीब-अमीर से ईर्ष्या करता है। यदि सब अपनी रोटी के लिए खुद मिहनत करें तो ऊँच नीच का भेद दूर हो जाय और बाद को जो धनी वर्ग रह जायगा वह अपने को मालिक न मानकर उस धन का केवल रक्षक या ट्रस्टी मानेगा और उसका उपयोग मुख्यतः केवल लोक सेवा के लिए करेगा। जिसे अहिंसा का पालन करना है, सत्य की आराधना करनी है, ब्रह्मचर्य को स्वाभाविक बनाना है उसके लिए तो कायिक परिश्रम रामबाण रूप हो जाता है। यह परिश्रम सच पूछिये तो खेती ही है। परन्तु आज तो ऐसी स्थिति है, कि सब उसे नहीं

कर सकते। इसलिए खेती का आदर्श ध्यान में रखकर, आदमी उसके ऐवज़ में दूसरा परिश्रम जैसे कातना, बुनना, बढ़ईगिरी, लुहार का काम इत्यादि कर सकता है। सबको अपना-अपना भङ्गी तो होना ही चाहिए। जो खाता है, उसे मलत्याग तो करना ही पड़ता है। जो मलत्याग करे वही अपने मल को गाड़े—यह सबसे अच्छी बात है। यह न हो सके तो समस्त परिवार अपना कर्त्तव्य पालन करे। मुझे तो वर्षों से ऐसा मालूम होता रहा है कि जहाँ भंगी का अलग धन्धा माना गया है, वहाँ कोई महादोष घुस गया है। इस आवश्यक आरोग्य रक्षक कार्य को नीच से नीच पहले किसने माना होगा, इसका इतिहास हमारे पास नहीं है। जिसने ऐसा माना है, उसने हमपर उपकार कदापि नहीं किया है। हम सभी भंगी हैं, यह भावना हम सबों में बचपन से ही दृढ़ हो जानी

चाहिए और इसे दृढ़ करने का सहज से सहज उपाय यह है कि जो समझ सके हों, वे आत्म-परिश्रम का आरम्भ पाखाना साफ़ करने से करें। जो ज्ञानपूर्वक ऐसा करेगा, वह उसी क्षण से धर्म को अलग और सच्चे रूप में समझने लगेगा। बालक, वृद्ध और रोग से अपङ्ग बने हुए यदि परिश्रम न करें तो उसे कोई अपवाद न माने। बालक का समावेश माता में हो जाता है। यदि नियम भंग न हो तो बूढ़े अपंङ्ग न होंगे और रोग तो हो ही कैसे सकता है?

सर्वधर्म समभाव—१

मंगलप्रभात

२३-९-३०

अपने व्रतों में जिस व्रत को हम लोग सहिष्णुता के नाम से जानते हैं, उसे यह नया नाम दिया है। सहिष्णुता अंग्रेजी शब्द 'टालरेशन' का अनुवाद है। यह मुझे पसन्द न पड़ा था, पर दूसरा शब्द सूझता न था। काका साहब को भी यह पसन्द न आया था। उन्होंने 'सर्वधर्मआदर' शब्द सुझाया। मुझे यह भी अच्छा न लगा। दूसरे धर्मों को सहन करने में उनमें न्यूनता मान ली जाती है। आदर में कृपा का भाव आता है। अहिंसा हमें दूसरे धर्मों के प्रति समभाव सिखाती है। आदर और सहिष्णुता अहिंसा की दृष्टि से पर्याप्त नहीं हैं।

सर्वधर्म समभाव—१

दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने के मूल में अपने धर्म की अपूर्णता का स्वीकार भी आ ही जाता है। और सत्य की आराधना, अहिंसा की कसौटी यही सिखाती है। सम्पूर्ण सत्य यदि हमने देखा होता तो फिर सत्य का आग्रह कैसा ?—तब तो हम परमेश्वर हो गये, क्योंकि यह हमारी भावना है कि सत्य ही परमेश्वर है। हम पूर्ण सत्य को नहीं पहचानते, इसीलिए उसका आग्रह करते हैं इसीसे पुरुषार्थ की गुञ्जाइश है। इसमें अपनी अपूर्णता को मान लेना आ गया। हम अपूर्ण तो हमारे द्वारा कल्पित धर्म भी अपूर्ण, स्वतन्त्र धर्म सम्पूर्ण है। उसे हमने देखा नहीं—जिस तरह ईश्वर को हमने नहीं देखा। हमारा माना हुआ धर्म अपूर्ण है और उसमें सदा परिवर्तन हुआ करता है, होता रहेगा। ऐसा होने से ही हम उत्तरोत्तर ऊपर उठ सकते हैं, सत्य की ओर—ईश्वर की

ओर दिन प्रति दिन आगे बढ़ सकते हैं। और यदि मनुष्यकल्पित सभी धर्मोंको अपूर्ण मानलें तो फिर किसी को ऊँच-नीच मानने की बात नहीं रह जाती। सभी सच्चे हैं, पर सभी अपूर्ण हैं, इसलिए दोष के पात्र हैं। समभाव होने पर भी हम उसमें दोष देख सकते हैं। हमें अपने में भी दोष देखने चाहिए। उस दोष के कारण उसका त्याग न करें, पर दोष दूर करें। यों समभाव रखें तो दूसरे धर्मों में जो कुछ ग्राह्य जान पड़े, उसे अपने धर्म में स्थान देते संकोच न हो, इतना ही नहीं; वैसा करना धर्म हो जाय।

सभी धर्म ईश्वरदत्त हैं, परन्तु वे मनुष्य-कल्पित होने के कारण, मनुष्यद्वारा उनका प्रचार होने के कारण वे अपूर्ण हैं। ईश्वरदत्त धर्म अगम्य है। मनुष्य उसे भाषामें प्रकट करता है। उसका अर्थ भी मनुष्य लगाता है। किसका अर्थ सच्चा माना जाय? सब अपनी-अपनी

दृष्टि से जबतक वह दृष्टि बनी रहे, तबतक सच्चे हैं। परन्तु सभी का झूठा होना भी असम्भव नहीं है। इसीलिए हमें सब धर्मों के प्रति समभाव रखना चाहिए। इससे अपने धर्म के प्रति उदासीनता नहीं उत्पन्न होती, परन्तु स्वधर्म-विषयक प्रेम, अन्ध प्रेम न रहकर ज्ञानमय हो जाता है। इससे अधिक सात्त्विक तथा निर्मल बनता है। सब धर्मों के प्रति समभाव आने पर ही हमारे दिव्यचक्षु खुल सकते हैं। धर्मान्धता और दिव्य दर्शन में उत्तर दक्षिण जितना अन्तर है। धर्मज्ञान होने पर अन्तराय मिट जाते हैं और समभाव उत्पन्न होता है। इस समभाव का विकास करके हम अपने धर्म को अधिक पहचान सकते हैं।

यहाँ धर्म अधर्म का भेद नहीं मिटता। यहाँ तो उन धर्मों की बात है, जिन्हें हम निर्धारित धर्म के रूप में जानते हैं। इन सभी धर्मों

के मूल सिद्धान्त एक ही हैं। सभी में सन्त स्त्री-पुरुष हो गये हैं, आज भी मौजूद हैं। इसलिए धर्मों के प्रति समभाव में और धर्मियों—मनुष्यों-के प्रतिवाले समभाव में कुछ अन्तर है। मनुष्य-मात्र—दुष्ट और श्रेष्ठ के प्रति, धर्मी और अधर्मी के प्रति समभाव की आवश्यकता है, परन्तु अधर्म के प्रति कदापि नहीं।

तब प्रश्न यह होता है कि बहुत से धर्मों की क्या आवश्यकता है? यह हम जानते हैं कि धर्म अनेक हैं। आत्मा एक है, पर मनुष्य देह अगणित हैं। देह की असंख्यता दूर करने से दूर नहीं हो सकती। फिर भी आत्मा की एकता को हम जान सकते हैं। धर्म का मूल एक है, जैसे वृक्ष का, परन्तु उसमें पत्ते अगणित हैं।

सर्वधर्म समभाव—२

मंगलप्रभात

२०-९-३०

यह विषय इतने महत्त्व का है कि इसे यहां कुछ और विस्तार से लिखता हूँ। अपना कुछ अनुभव लिख दूँ तो शायद समभाव का अर्थ अधिक स्पष्ट हो जाय। यहाँ की तरह फिनिक्स में भी नित्य प्रार्थना होती थी। वहाँ हिन्दू, मुसलमान और ईसाई थे। स्वर्गीय सेठ रुस्तम जी या उनके लड़के अक्सर उपस्थित रहते ही थे। सेठ रुस्तमजी को "मने वहालुं वहालुं दादा रामजीनुं नाम" (मुझे राम नाम प्रिय है) बहुत अच्छा लगता था। मुझे याद आता है कि एक बार मगनलाल या काशी हम सबको गवा रहे थे। सेठ रुस्तमजी

उल्लास में बोल उठे—"दादा रामजी" के बदले 'दादा होरमजद' गाओ न।" गवाने और गाने वालों ने इस सूचना पर तुरन्त इस तरह अमल किया मानों वह बिलकुल स्वाभाविक हो। और इसके बाद से रुस्तमजी जब उपस्थित होते, तब तो अवश्य ही और वह न होते तब भी कभी कभी हम लोग वह भजन 'दादा होरमजद' के नामसे गाते। स्वर्गीय सेठ दाऊदजी का पुत्र हुसेन तो आश्रम में बहुधा रहता। वह प्रार्थना में उत्साह पूर्वक शामिल होता। वह खुद बहुत ही मधुर सुर में 'आर्गन' के साथ "यह बहारे बाग़ दुनिया चन्द रोज़" गाया करता। वह भजन उसने हम सबको सिखा दिया था और वह अक्सर प्रार्थना में गाया जाता था। हमारी यहाँ की प्रार्थनामाला (आश्रम भजनावली) में उसे स्थान मिला है, वह सत्यप्रिय हुसेन की स्मृति है। उसकी अपेक्षा अधिक तत्परता से

सत्य का आचरण करनेवाला नवयुवक मैंने नहीं देखा। जोसफ रायपेन आश्रम में अक्सर आते जाते थे। वह ईसाई थे। उन्हें 'वैष्णव जन' वाला भजन बहुत अच्छा लगता था। उन्हें संगीत का अच्छा ज्ञान था। उन्होंने 'वैष्णव जन' के स्थान पर "क्रिश्चियन जन तो तेने कहिये" अलाप दिया। सबने तुरन्त उनका साथ दिया। मैंने देखा कि जोसफ के आनन्द का वारापार न रहा।

आत्मसन्तोष के लिए जब मैं भिन्न-भिन्न धर्मों की पुस्तकें उलट रहा था, तब मैंने ईसाई, इस्लाम, जरथुस्त्र, यहूदी और हिन्दू—इतने धर्मों की पुस्तकों का अपना सन्तोष करलेने भर को परिचय प्राप्त किया था। मैं कह सकता हूँ कि इस अध्ययन के समय सभी धर्मों के प्रति मेरे मन में समभाव था। मैं यह नहीं कहता कि उस समय मुझे यह ज्ञान था। उस समय

समभाव शब्द का भी पूरा परिचय न होगा। परन्तु उस समय की अपनी स्मृतियों को ताजी करता हूँ तो मुझे याद नहीं आता कि उन धर्मों के सम्बन्ध में टीका-टिप्पणी करने की इच्छा तक हुई हो। परन्तु इनके ग्रन्थों को धर्मग्रन्थ मानकर आदर पूर्वक पढ़ता और सबमें मूल नैतिक सिद्धान्त एक जैसे ही पाता था। कितनी ही बातें मैं न समझ सकता था। यही बात हिन्दू धर्मग्रन्थों के सम्बन्ध में भी थी। आज भी कितनी ही बातें नहीं समझता। पर अनुभव से देखता हूँ कि जिसे हम नहीं समझ सकते वह जरूर गलत है, ऐसा मानने में जल्दबाजी करना भूल है। बहुत सी बातें जो पहले न समझ पड़ती थीं, आज दीपक की तरह दिखाई देती हैं। समभाव का अभ्यास करने से अनेक गुत्थियाँ अपने आप सुलझ जाती हैं। और जहाँ हमें दोष ही दिखाई दें वहाँ उसे दरसाने में भी

जो नम्रता और विवेक होता है, उससे किसी को दुःख नहीं होता।

एक कठिनाई शायद रह जाती है। पिछली बार मैंने कहा था कि धर्म-अधर्म का भेद रहता है, और अधर्म के प्रति समभाव रखने का अभ्यास करना यहाँ उद्देश्य नहीं है। यदि ऐसा हो तो धर्माधर्म का निर्णय करने में ही क्या समभाव की शृंखला नहीं टूट जाती? ऐसा प्रश्न उठ सकता है और यह भी सम्भव है कि ऐसा निर्णय करनेवाला भूल कर बैठे। परन्तु हममें यदि वास्तविक अहिंसा मौजूद रहे तो हम वैरभाव से बच जाते हैं। क्योंकि अधर्म देखने पर भी उस अधर्म का आचरण करनेवाले के प्रति तो प्रेम भाव ही होगा। और इससे या तो वह हमारी दृष्टि स्वीकार कर लेगा अथवा हमें हमारी भूल दिखावेगा, या दोनों एक दूसरे के मतभेद को सहन करेंगे।

अन्त में विपक्षी अहिंसक न हुआ तो वह कठोरता से काम लेगा। फिर भी यदि हम अहिंसा के सच्चे पुजारी होंगे तो इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं कि हमारी मृदुता उसकी कठोरता को दूर कर ही देगी। दूसरे को उसकी भूल के लिए भी हमें पीड़ा नहीं पहुंचानी है, हमें खुद ही कष्ट सहना है। इस स्वर्ण नियम का जो पालन करता है वह सभी संकटों से बच जाता है।

नम्रता

मंगलप्रभात

७-१०-३०

इसे व्रतों में पृथक् स्थान नहीं मिला और मिल भी नहीं सकता। यह अहिंसा का एक अर्थ है, अथवा यों कहिए कि यह उसके अन्तर्गत है। परन्तु नम्रता अभ्यास से प्राप्त नहीं होती। वह स्वभाव में ही होनी चाहिए। जब आश्रम की नियमावली पहले पहल बनी, तब मैंने मित्रों के पास उसका मसविदा भेजा था। सर गुरुदास बैनर्जी ने नम्रता को व्रतों में स्थान देने की सूचना की थी। उस समय भी उसे व्रतों में स्थान न देने का मैंने यही कारण बतलाया था, जो यहाँ लिख रहा हूँ। यद्यपि व्रतों में उसे स्थान नहीं दिया गया, तथापि वह

व्रतों की अपेक्षा शायद अधिक आवश्यक है; उनके बराबर आवश्यक तो निश्चय ही है। परन्तु नम्रता किसीको अभ्यास से प्राप्त होती नहीं देखी गई। सत्य का अभ्यास हो सकता है, दया का अभ्यास हो सकता है, परन्तु नम्रता के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है, कि उस-का अभ्यास करना दम्भ का अभ्यास करना है। यहाँ नम्रता का तात्पर्य उस वस्तु से नहीं है जो बड़े आदमियों में एक दूसरे के सम्मानार्थ सिखाई-पढ़ाई जाती है। कोई (बाहर से) दूसरे को साष्टाँग नमस्कार करता हो, फिर भी मन में उसके सम्बन्ध में तिरस्कार भरा हो तो वह नम्रता नहीं धूर्तता है। कोई राम नाम जपता हो, माला फेरता हो, मुनि जैसा बनकर समाज में बैठता हो, पर भीतर स्वार्थ भरा हो तो वह नम्र नहीं पाखण्ड है। नम्र मनुष्य खुद नहीं जानता कि कब वह नम्र रहता है।

सत्यादि की नाप तौल हम कर सकते हैं, पर नम्रता की नहीं की जा सकती। स्वाभाविक नम्रता छिपी नहीं रहती। फिर भी नम्र मनुष्य खुद उसे नहीं देख सकता। वशिष्ठ और विश्वामित्र का उदाहरण तो आश्रम में हम लोगों ने अनेकबार सुना और समझा है। हमारी नम्रता शून्यता तक पहुंच जानी चाहिए। हम भी कुछ हैं, यह भूत सिर पर सवार हुआ कि नम्रता हवा हो गई और हमारे सभी व्रत मिट्टी में मिल गए। व्रत पालन करनेवाला यदि मन में अपने व्रत-पालन का अभिमान करता है तो व्रतों का मूल्य नष्ट हो जाता है और समाज में वे विष रूप हो जाते हैं। उसके व्रत का मूल्य न समाज में ही रह जाता है, न वह खुद ही उसका फल भोग सकता है। नम्रता का अर्थ है अहम्भाव का आत्यन्तिक क्षय। विचार करने पर मालूम हो सकता है कि इस संसार में

प्राणि मात्र का महत्व एक अणु जितना भी नहीं है। शरीर के रूप में हम लोग क्षण जीवी हैं। काल के अनन्त चक्र में सौ वर्ष का हिसाब किया ही नहीं जा सकता। परन्तु यदि हम इस चक्कर से बाहर हो जायँ—अर्थात् "कुछ नहीं हो जायँ", तो हम सब कुछ हो जायँ। अपने को कुछ मानने का अर्थ है ईश्वर से—परमात्मा से, सत्य से पृथक् हो जाना। कुछ का मिट जाना परमात्मा में मिल जाना है। समुद्र में रहनेवाला बिन्दु समुद्र की महत्ता का उपभोग करता है। परन्तु उसका उसे ज्ञान नहीं होता। समुद्र से अलग होकर, ज्यों ही उसने कुछ होने का दावा किया कि सूखा। इस जीवन को पानी के बुलबुले की उपमा दी गई है इसमें मुझे ज़रा भी अत्युक्ति नहीं दिखाई देती।

ऐसी नम्रता शून्यता का अभ्यास करने

से कैसे प्राप्त हो सकती है ? पर व्रतों को ठीक से समझ लेने पर नम्रता अपने आप आने लगती है। सत्य का पालन करने की इच्छा रखनेवाला अहङ्कारी कैसे हो सकता है ? दूसरों के लिए प्राण न्योछावर करनेवाला अपना स्थान कहाँ घेरने जाय ? वह तो जिस समय प्राण न्योछावर करने का निश्चय करता है, उसी समय अपने शरीर को फेंक देता है। क्या ऐसी नम्रता पुरुषार्थरहितता नहीं कही जा सकती ? हिन्दू धर्म में ऐसा अर्थ अवश्य कर डाला गया है, और इससे आलस्य को, पाखण्ड को बहुत जगह स्थान मिल गया है। वास्तव में नम्रता का अर्थ है तीव्रतम पुरुषार्थ परन्तु वह सब परमार्थ के लिए होना चाहिए। ईश्वर खुद चौबीसों घण्टे अनवरत काम किया करता है, अङ्गड़ाई लेनेतक की फुरसत नहीं लेता। हम उसके हो जायँ, उसमें मिल जायँ,

तो हमारा उद्योग भी उसके समान ही अत-न्द्रित हो गया—हो जाना चाहिए। समुद्र से अलग हो जानेवाले बिन्दु के लिए हम आराम की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु समुद्र में रहने वाले बिन्दु के लिए आराम कैसा? समुद्र को एक क्षण के लिए भी आराम कहाँ मिलता है? ठीक यही बात हमारे सम्बन्ध में भी है। ईश्वररूपी समुद्र में हम मिले और हमारा आराम गया। आराम की आवश्यकता भी जाती रही। यही सच्चा आराम है, यह महाअशान्ति में शान्ति है। इसलिए सच्ची नम्रता हमसे प्राणि मात्र की सेवा के लिए सर्वार्पण की आशा रखती है। सबसे निवृत्त हो जाने पर हमारे पास न रविवार रह जाता है, न शुक्रवार, न सोमवार। इस अवस्था का वर्णन करना कठिन है, परन्तु वह अनुभव की जा सकती है। जिन्होंने सर्वार्पण किया है, उन्होंने इसका अनु-

भव किया है। हम सब भी अनुभव कर सकते हैं। यह अनुभव करने के उद्देश से ही हम लोग आश्रम में एकत्र हुए हैं। सभी व्रत, सभी प्रवृत्तियाँ यह अनुभव करने के लिए ही हैं। अन्यान्य कार्य करते हुए किसी दिन यह हमारे हाथ लग जायगा। यदि केवल उसकी खोज की जाय, तो वह प्राप्य नहीं है।

स्वदेशी

प्रवचनों में 'स्वदेशी' पर लिखने का विचार त्याग ही दूंगा, क्योंकि राजनैतिक विषयों को न छोड़ने का जो संकल्प किया है, उसमें इससे बाधा पड़ती है। स्वदेशी पर केवल धार्मिक दृष्टि से लिखते हुए भी कुछ ऐसी बातें लिखनी ही होंगी, जिनका राजनैतिक विषयों से परोक्ष सम्बन्ध है।

स्वदेशी व्रत

स्वदेशी व्रत इस युग का महाव्रत है। जो वस्तु आत्मा का धर्म है, लेकिन अज्ञान या दूसरे कारण से आत्मा को जिसका भान नहीं रहा उसके पालन के लिए व्रत लेनेकी जरूरत पड़ती है। जो स्वभावतः निरामिषाहारी है उसे आमिषाहार न करने का व्रत नहीं लेना रहता। आमिष उसके लिए प्रलोभन की चीज नहीं होती उल्टे आमिष देख कर उसे उल्टी आती है।

स्वदेशी आत्मा का धर्म है, पर वह बिसर गया है, इससे उसके विषय में व्रत लेने की जरूरत पड़ती है। आत्मा के लिए स्वदेशी का अन्तिम अर्थ सारे स्थूल सम्बन्धों से

आत्यन्तिक मुक्ति है। देह भी उसके लिए पर-देशी है। क्योंकि देह अन्य आत्माओं के साथ एकता स्थापित करने में बाधक होता है, उसके मार्ग में विघ्नरूप है। जीव मात्र के साथ ऐक्य साधते हुए स्वदेशी धर्म को जानने और पालने वाला देह का भी त्याग करता है।

यह अर्थ सत्य हो तो हम आसानी से समझ सकते हैं कि अपने पास-पड़ोस की सेवा में ओत-प्रोत हुए रहना स्वदेशी धर्म है। ऐसी सेवा करते दूरवाले बाकी रह जाते हैं अथवा उनको हानि होती है, ऐसा आभासित होना सम्भव है, पर वह आभास मात्र होगा। स्वदेशी की शुद्ध सेवा करने में परदेशी की भी शुद्ध सेवा हो ही जाती है। जैसा पिंडमें वैसा ब्रह्मांड में। इसके विरुद्ध दूर की सेवा करने का मोह रखने में वह तो होती नहीं और पड़ोसी की

सेवा छूट जाती है। यों न इधर के रहे न उधर के ही, दोनों बिगड़ते हैं। मुझ पर आधार रखने वाले कुटुम्बीजन और ग्रामवासियों को मैंने छोड़ दिया तो मुझपर उनका जो आधार था वह चलागया। दूरवालों की सेवा करने जाने में उनकी सेवा करने का जिसका धर्म है वह उसे भूलता है। वहां का वातावरण बिगाड़ा और अपना तो बिगाड़ कर चला ही था। ऐसे अनगिनत हिसाब सामने रख कर स्वदेशी धर्म सिद्ध किया जा सकता है। इसीसे 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः' वाक्य की उत्पत्ति हुई है। इसका अर्थ यों किया जाय तो ठीक होगा कि 'स्वदेशी पालते हुए मौत भी हो तो अच्छी, परदेशी तो भयानक ही है।" स्वधर्म अर्थात् स्वदेशी।

स्वदेशी न समझने में ही गड़बड़ होती है। कुटुम्ब पर मोह रख कर मैं उसे पोसूं,

उसके लिए धन चुराऊं, यह स्वदेशी नहीं है। मुझे तो उनके प्रति मेरा जो धर्म है उसे पालना है। उस धर्म की खोज करते और पालते हुए मुझे सर्व व्यापी धर्म मिल रहता है। स्वधर्म के पालन से परधर्मी को या परधर्म को कभी हानि पहुंच ही नहीं सकती, न पहुं-चनी चाहिए। पहुंचे तो माना हुआ धर्म स्वधर्म नहीं बल्कि वह स्वाभिमान है इससे वह त्याज्य है।

स्वदेशी का पालन करते हुए कुटुम्ब का बलिदान भी देना पड़ता है। पर वैसा करना पड़े तो उसमें भी कुटुम्ब की सेवा होनी चाहिए। यह सम्भव है कि जैसे अपने को खोकर अपनी रक्षा कर सकते हैं वैसे कुटुम्ब को खोकर कुटुम्ब की रक्षा कर सकते हैं। मानिए, मेरे गाँव में महामारी हो गई। इस

बीमारी के चङ्गुल में फंसे हुओं की सेवा में मैं अपने को, पत्नी को, पुत्रों को, पुत्रियों को लगाऊँ और सब इस रोग में फंस कर मौत के मुंह में चले जायं तो मैंने कुटुम्ब का संहार नहीं किया, मैंने उसकी सेवा की है। स्वदेशी में स्वार्थ नहीं है अथवा है तो वह शुद्ध स्वार्थ है। शुद्ध स्वार्थ माने परमार्थ; शुद्ध स्वदेशी माने परमार्थ की पराकाष्ठा।

इस विचार धारा के अनुसार मैंने खादी में सामाजिक शुद्ध स्वदेशी धर्म देखा। सब की समझ में आने योग्य, सभी को जिसके पालने की भारी आवश्यकता हो ऐसा इस युग में, इस देश में कौन स्वदेशी धर्म हो सकता है? जिसके अनायास पालन से भी हिन्दुस्थान के करोड़ों की रक्षा हो सकती है ऐसा कौनसा स्वदेशी धर्म हो सकता है? जवाब में चर्खा अथवा खादी मिली।

कोई यह न माने कि इस धर्म के पालन से परदेशी मिलवालों को नुकसान होता है। चोर को चुराई हुई चीज वापस देनी पड़े या वह चोरी करते रोका जाय तो इसमें उसे नुकसान नहीं है, फ़ायदा है। पड़ोसी शराब पीना या अफीम खाना छोड़ दे तो इससे कलवार को या अफीम की दूकानदार को नुकसान नहीं, लाभ है। वे नाजवी तरह से जो अर्थ साधते हों उनके इस अनर्थ का नाश होने में उनको और जगत को फायदा ही है।

पर जो चर्खे द्वारा जैसे तैसे सूत कात कर, खादी पहन पहना कर स्वदेशी धर्म का पूर्ण पालन हुआ मान बैठते हैं वे महामोह में डूबे हुए हैं। खादी यह सामाजिक स्वदेशी की पहली सीढ़ी है, इस स्वदेशी धर्म की परिसीमा नहीं है। ऐसे खादीधारी देखे गये हैं, जो और

सब सामान परदेशी रखते हैं। वे स्वदेशी का पालन करनेवाले नहीं कहे जा सकते। वे तो प्रवाह में बहनेवाले हैं। स्वदेशी व्रत का पालन करनेवाला बराबर अपने आस पास निरीक्षण करेगा और जहाँ जहाँ पड़ोसी की सेवा की जा सकती है अर्थात् जहाँ जहाँ उनके हाथ का तैयार किया हुआ आवश्यक माल होगा वहां वह दूसरा छोड़कर वह लेगा। फिर चाहे स्वदेशी वस्तु पहले महंगी और कमदर्जे की हो। व्रत धारी इसे सुधारने और सुधरवाने का प्रयत्न करेगा। कायर बनकर स्वदेशी खराब है इससे परदेशी काम में नहीं लाने लग जायगा।

किन्तु स्वदेशी धर्म जाननेवाला अपने कूयें में डूबेगा नहीं। जो वस्तु स्वदेश में नहीं बनती अथवा महा कष्ट से ही बन सकती है वह पर देश के द्वेष के कारण अपने देश में बनाने बैठ

जाय तो उसमें स्वदेशी धर्म नहीं है। स्वदेशी धर्म पालने वाला कभी परदेश का द्वेष करेगा ही नहीं। अतः पूर्ण स्वदेशी में किसी का द्वेष नहीं है। यह संकुचित धर्म नहीं है। यह प्रेम में से अहिंसा में से पैदा हुआ सुन्दर धर्म है।

व्रत की आवश्यकता

मंगलप्रभात

१४-१०-३०

व्रत के महत्त्व के सम्बन्ध में मैं इस लेख-माला में जहाँ तहाँ कुछ न कुछ लिख गया होऊँगा। परन्तु व्रत जीवन के गठन के लिये कितने आवश्यक हैं, इस पर विचार कर लेना उचित प्रतीत होता है। व्रतों के सम्बन्ध में लिख चुका हूं, इसलिए अब हम उनव्रतों की आवश्यकता पर विचार करें।

एक सम्प्रदाय है और वह प्रबल है, जो कहता है कि "अमुक नियमों का पालन करना

उचित है, पर उनके सम्बन्ध में वृत लेने की आवश्यकता नहीं। यही नहीं; ऐसा करना मन की दुर्बलता सूचित करता है और हानिकारक भी हो सकता है। फिर, वृत लेने के बाद वह नियम अड़चन करने वाला या पाप-रूप मालूम हो तो भी उसे पकड़ रखना पड़े, यह तो असह्य है।" वे कहते हैं— उदाहरण के लिये शराब न पीना अच्छा है, इसलिए उसे न पीना चाहिए, पर किसी समय पी ली जाय तो क्या हानि है? औषधिरूप से तो उसे पीना ही चाहिये। इसलिये उसे न पीनेका वृत लेना अपने हाथ पैर कटा देने के समान है। जो बात शराब के सम्बन्ध है, वही बात दूसरी बातों के सम्बन्ध में भी है। झूठ भी भलाई के लिये क्यों न बोला जाय? मुझे इन दलीलों में तत्व नहीं दिखाई देता। वृत का अर्थ है अटल निश्चय। अड़चनों को पार कर जाने के लिये

ही तो व्रतों की आवश्यकता है। असुविधा सहन करने पर भी जो भङ्ग न हो, वही अटल निश्चय कहा जा सकता है। समस्त संसार का अनुभव इस बात की गवाही दे रहा है कि ऐसे निश्चय के बिना मनुष्य उत्तरोत्तर ऊपर उठ ही नहीं सकता। जो पापरूप हो उसका निश्चय व्रत नहीं कहलाता। वह तो राक्षसी वृत्ति है। और कोई विशेष निश्चय जो पहले पुण्यरूप प्रतीत हुआ हो और अन्त में पापरूप सिद्ध हो, तो उसे त्याग करने का धर्म अवश्य प्राप्त होता है। परन्तु ऐसी बात के लिये कोई व्रत नहीं लेता, लेना चाहिए भी नहीं। जो सर्वमान्य धर्म माना गया है, मर जिसके आचरण की हमें आदत नहीं पड़ी, उसी के सम्बन्ध में व्रत होना चाहिए। ऊपर के दृष्टान्त में तो पापका आभासमात्र सम्भव है। सत्यवादी ऐसा विचार करने नहीं बैठता कि सत्य कहने से किसी को हानि तो

न होगी ? उसे खुद ऐसा विश्वास रखना चाहिये कि सत्य से इस संसार में किसी की हानि नहीं होती और हो सकती भी नहीं। मद्यपान के विषय में भी यही बात है। या तो इस व्रत में दवा के लिए अपवाद रहने देना चाहिए, या व्रत लेने के बाद शरीर के लिए जोखिम लेने का भी निश्चय रहना चाहिए। दवा के तौर पर भी शराब न पीने से शरीर न रहे तो क्या हुआ ? शराब पीने से शरीर रहेगा ही, इसका जिम्मा कौन ले सकता है ? और उस समय शरीर बच गया, पर किसी दूसरे समय किसी दूसरे कारण से वह न रहा, तो उसकी ज़बाब देही किसके सिर रहेगी ? इसके विपरीत, शरीर रक्षा के लिये भी शराब न पीने के दृष्टान्त का चमत्कारिक प्रभाव शराब की लत में फंसे हुए लोगों पर पड़े, तो संसार का कितना लाभ है ? शरीर जाय या रहे, मुझे तो धर्म का पालन

करना ही है—ऐसा भव्य निश्चय करनेवाले ही किसी समय ईश्वर की झांकी कर सकते हैं। व्रत लेना दुर्बलतासूचक नहीं, बलसूचक है। अमुक बात करनी उचित है तो फिर करनी ही होगी—इसी (निश्चय) का नाम व्रत है और इसमें बल है। यदि इसे व्रत न कह कर किसी दूसरे नामसे पुकारिये तो उसमें आपत्ति नहीं हो सकती। परन्तु 'जहाँ तक हो सकेगा करूँगा' ऐसा कहने वाला अपनी कमजोरी या अभिमान का परिचय देता है, वह खुद भले ही उसे नम्रता के नाम से पुकारता हो। इसमें नम्रता की गन्धतक नहीं है। मैंने तो अपने और बहुतों के जीवन में देखा है कि "यथा सम्भव" शब्द शुभ निश्चयों में विषके समान है। "जहां तक हो सकेगा" वहां तक करनेके मानी हैं पहली ही अड़चन के सामने गिर पड़ना। "जहांतक हो सकेगा सत्य का पालन करूँगा" इस वाक्य का

कोई अर्थ ही नहीं है। व्यापार में यथासंभव अमुक तारीख़ को अमुक रकम चुकादी जायगी इस तरह की चिट्ठी चेक या हुंडी के रूपमें स्वीकार नहीं की जाती। उसी तरह जहां तक हो सकेगा वहाँ तक सत्य पालनकरनेवाले की हुंडी भगवान की दूकान में भुनाई न जा सकेगी।

ईश्वर खुद निश्चय की, व्रत की सम्पूर्ण मूर्त्ति है। उसके नियम से अणु भी इधर उधर हो जाय तो उसका ईश्वरत्वही मिट जाय। सूर्य महाव्रतधारी है, उससे संसार का काल निर्माण होता है और शुद्ध पञ्चांगों की रचना की जा सकती है। उसने अपनी यह साख बना ली है कि वह सदा उदय हुआ है और होता रहेगा, और इसी से हमलोग अपने को सुरक्षित मानते हैं। सभी प्रकार के व्यापार का आधार एक पक्की प्रतिज्ञा होती है। व्यापारी एक दूसरे के प्रति वादे से बंधे न हों तो व्यापार ही न चले। इस प्रकार

व्रत सर्वव्यापक वस्तु दिखाई देती है। तो फिर जहां अपने जीवन को बांधने का प्रश्न उपस्थित हो, जहां ईश्वर दर्शन का प्रश्न हो, वहां व्रत के बिना कैसे चल सकता है? इसलिए व्रत की आवश्यकता के विषय में हमारे मनमें कभी शंका उठनी ही न चाहिए।

परिशिष्ट

[व्रत विचार के अभ्यासी के लिए उपयोगी समझ कर आश्रम की नियमावली में से नीचे का भाग दिया गया है।]

१—सत्य

साधारण व्यवहार में असत्य न बोलना या असत्य आचरण न करना इतना ही सत्य का अर्थ नहीं है। पर सत्य यही परमेश्वर है और उसके सिवा दूसरा कुछ नहीं है। इस सत्य की खोज और पूजा के निमित्तरूप ही और सारे नियमों की आवश्यकता है और उसीमेंसे उनकी उत्पत्ति है। इस सत्य का उपासक अपने माने हुए देश हित के लिए भी असत्य नहीं बोलता, असत्य का आचरण नहीं करता। सत्य के

लिए वह प्रह्लाद की भांति माता-पिता आदि बड़ों की आज्ञा भी विनय पूर्वक भङ्ग करने में धर्म समझता है।

२—अहिंसा

प्राणियों का वध न करना इतना ही इस व्रत के पालने के लिये काफ़ी नहीं है। अहिंसा के माने सूक्ष्म जन्तुओं से लेकर मनुष्य तक सभी जीवों के प्रति समभाव। इन व्रतों का पालन घोर अन्याय करनेवाले के प्रति भी क्रोध न करे, बल्कि उसपर प्रेमभाव रक्खे, उसका हित चाहे और करे। पर प्रेम करता हुआ भी अन्यायी के अन्याय के वश न हो, अन्याय का विरोध करे और वैसा करने में वह जो कष्ट दे वह धीरज ।पूर्वक और अन्यायी का द्वेष किए बिना सहे।

३—ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचर्य के पालनबिना उपरोक्त व्रतों का

पालन करना अशक्य है। ब्रह्मचारी किसी स्त्री या पुरुष पर कुदृष्टि न करे, इतना ही बस नहीं है, किन्तु मनसे भी विषयों का चिन्तन या सेवन न करे। और विवाहित हो तो अपनी स्त्री या अपने पति के साथ भी विषय भोग न करे पर उसे मित्र समझ कर उसके साथ निर्मल सम्बन्ध रक्खे। अपनी या दूसरी स्त्री का या अपने पति का या दूसरे पुरुष का विकार मय स्पर्श अथवा उसके साथ विकार-मयभाषण या दूसरी विकार-मय चेष्टा यह भी स्थूल ब्रह्मचर्य का भंग है। पुरुष पुरुष में या स्त्री स्त्री में या दोनों की वस्तु के सम्बन्ध में विकारमय चेष्टा भी स्थूल ब्रह्मचर्य का भङ्ग है।

४—अस्वाद

मनुष्य जबतक जीभ के रसों को न जीते तबतक ब्रह्मचर्य का पालन अति कठिन है, ऐसा अनुभव होने के कारण अस्वाद को भिन्न व्रत

माना गया है। भोजन केवल शरीर यात्रा के ही लिए होना चाहिए उसे औषधि समझ कर संयमपूर्वक लेने की जरूरत है। इस व्रत का पालन करने वाला विकार उत्पन्न करनेवाले मसालों वगैरह का त्याग करे। मांसाहार, मद्य-पान, तम्बाकू, भांग इत्यादि का आश्रममें निषेध है। इस व्रत में स्वाद के लिए दावतों का या भोजन के आग्रह का निषेध है।

५—अस्तेय

दूसरे की चीज उसकी इजाजत के बिना न लेनी इतना ही इस व्रत के पालनके लिए बस नहीं है। जो चीज जिस उपयोग के लिए हमें मिली हो, उससे उसका दूसरा उपयोग करना या जितने समय के लिए मिली हो उसकी अपेक्षा अधिक समयतक उपयोग करना भी चोरी है। इस व्रत के मूलमें सूक्ष्म सत्य तो यह मौजूद है कि परमात्मा प्राणियों के लिए नित्य

की आवश्यक वस्तु ही नित्य उपजाता है और देता है। उससे अधिक बिल्कुल नहीं उपजाता। इसलिये अपनी कमसे कम आवश्यकता के सिवा जो कुछ भी मनुष्य लेता है वह चोरी करता है।

६—अपरिग्रह

अपरिग्रह अस्तेय के भीतर ही आ जाता है। अनावश्यक वस्तु जैसे ली नहीं जा सकती वैसे उसका संग्रह भी नहीं किया जा सकता। इससे जिस खुराक या साज सामान की जरूरत नहीं है उसका संग्रह इस व्रत का भङ्ग है। जिसका कुर्सी के विना काम चल सकता है वह कुर्सी न रखे। अपरिग्रही अपना जीवन नित्य सादा करता जाय।

७—कायिकपरिश्रम

अस्तेय और अपरिग्रह के पालन के लिए कायिक परिश्रम का नियम आवश्यक है।

इसके सिवा मनुष्य मात्र शरीर निर्वाह शारीरिक मेहनत से करें तो ही वह समाज के और अपने द्रोह में से बच सकता है। जिसके अङ्ग कामदे सकते हैं और जिसे समझ आ गई है ऐसे स्त्री पुरुष अपना सारा नित्य काम जो अपने पूरा कर लेने लायक हो वह कर लेना चाहिए और दूसरेकी सेवा विना कारण नलेनी चाहिए। पर बालकों की, दूसरे अपङ्ग लोगों की और वृद्ध स्त्री पुरुषों की सेवा प्राप्त हो तब उसे करना सामाजिक जिम्मेदारी समझने वाले प्रत्येक मनुष्य का धर्म है।

इस आदर्श के अनुसार आश्रममें मजदूर जहां अनिवार्य हों वहीं रखे जाते हैं, और उसके साथ मालिक नौकर का व्यवहार नहीं रखा जाता

८—स्वदेशी

मनुष्य सर्वशक्तिमान प्राणी नहीं है। इससे वह अपने पड़ोसी की सेवा करने में जगत की

सेवा करता है। इस भावना का नाम स्वदेशी है। अपने निकटवालों की सेवा छोड़कर दूरवालों की सेवा करने या लेने दौड़ता है वह स्वदेशी भङ्ग करता है। इस भावना के पोषण से संसार सुव्यवस्थित रह सकता है। उसके भङ्ग में अव्यवस्था है। इस नियम के अनुसार यथाशक्ति हमें हमारे पड़ोसी की दूकान से ही व्यवहार रखना चाहिए; देश में जो चीज होती हो और सहज में हो सकती हो वह चीज हमें परदेश से न मंगानी चाहिए। स्वदेशी में स्वार्थ को स्थान नहीं है। अपने को कुटुम्ब के लिए कुटुम्ब को शहर के लिए, शहर को देश के लिए और देश को जगत के कल्याण के लिए होमना पड़ता है।

९—अभय

सत्य, अहिंसा, इत्यादि व्रतों का पालन निर्भयता विना असंभव है। और वर्तमान

समय में सर्वत्र भय व्याप रहा है उस दशा में निर्भयता का चिंतन और उसकी शिक्षा अत्यन्त आवश्यक होने के कारण उसे व्रतों में स्थान दिया गया है। जो सत्यपरायण रहना चाहे उसे न जाति-पांति से डरना चाहिए, न सरकार से डरना चाहिए, न चोर से डरना चाहिए, न ग़रीबी से डरना चाहिए, न मौत से डरना चाहिए।

१०—अस्पृश्यता निवारण

हिन्दू-धर्म में अस्पृश्यता की रूढ़ि ने जड़ पकड़ रक्खी है। उसमें धर्म नहीं बल्कि अधर्म है, ऐसा माननेके कारण अस्पृश्यता निवारण को नियम में स्थान दिया गया है, अस्पृश्य गिने जाने वालों के लिए आश्रम में दूसरी जातियों के जितना ही स्थान है।

आश्रम जातिभेद को नहीं मानता। यह मानाजाता है कि जातिभेदसे,हिन्दूधर्म को नुक़-

सानहुआ है। उसमें जो ऊंच नीच और छूआ-छूत की भावना है वह घातक है। आश्रमवर्णाश्रम धर्म को मानता है। उसमें की वर्णव्यवस्था केवल धंधे के आधीन है, ऐसा जान पड़ता है इससे वर्णनीति के अनुसार मां बाप के धंधे में से आजीविका पैदा करके शेप समय शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने और बढ़ाने में लगावे। स्मृतियोंमें विद्यमान आश्रमव्यवस्था जगत का हित करने वाली है; परवर्णाश्रम धर्म मान्य होने पर भी आश्रम का जीवन गीतामन्य व्यापक और भावना प्रधानसंन्यास के आदर्श को सामनेरख कर रचा गया होने के कारण आश्रममें वर्णभेद को स्थान नहीं है।

११—सहिष्णुता

आश्रमका ऐसा मानना है कि जगत में प्रचलित प्रख्यातधर्म सत्यको व्यक्तकरनेवाले हैं। पर वे सब अपूर्ण मनुष्य द्वारा व्यक्त हुए हैं

इसलिए सबमें अपूर्णता का अथवा असत्य का मिश्रण हो गया है। इसलिए हमें जिस प्रकार अपने धर्म के लिए मानहो उतना ही मान हमें दूसरे के धर्म के प्रति भी रखना उचित है। जहां ऐसी सहिष्णुता हो वहां एक दूसरे के धर्म का विरोध संभव नहीं होता, न परधर्मी को अपने धर्म में लाने का प्रयत्न सम्भव होता; बल्कि सब धर्मों में जो दोष हैं वे दूर हों, ऐसी ही प्रार्थना और ऐसी ही भावना बराबर रखनी उचित है।

सस्ता साहित्य मण्डल की
सर्वोदय साहित्य माला के प्रकाशन

नाम पुस्तक	मूल्य
१—दिव्य जीवन ।	।=)
२—जीवन साहित्य ।	१।)
३—तामिल वेद ।	।।।)
४—भारत में व्यसन और व्यभिचार ।	।।।=)
५—सामाजिक कुरीतियाँ [जब्त अप्रा०]	।।।)
६—भारत के स्त्री-रत्न ।	-३)
७—अनोखा । [अप्राप्य]	१।=)
८—ब्रह्मचर्य-विज्ञान ।	।।।=)
९—यूरोप का इतिहास ।	२)
१०—समाज-विज्ञान ।	१।।)
११—खद्दर का संपत्तिशास्त्र ।	।।।≡)
१२—गोरों का प्रभुत्व ।	।।।=)
१३—चीन की आवाज़ । [अप्राप्य]	।-)
१४—दक्षिण अफ्रिका के सत्याग्रह का इतिहास ।	१।)
१५—विजयी बारडोली । [अप्राप्य]	२)

३५—हिन्दी-मराठी-कोष। २)
३६—स्वाधीनता के सिद्धान्त। ॥)
३७—महान् मातृत्व की ओर। ॥।=)
३८—शिवाजी की योग्यता। ।=)
३९—तरंगित हृदय। ॥)
४०—हालैण्ड की राज्यक्रान्ति। १॥)
४१—दुखी दुनिया। ।=)
४२—जिन्दा लाश। ॥)
४३—आत्म-कथा। १॥)
४४—जब अंग्रेज आये। [जब्त अप्रा०] १।=)
४५—जीवन-विकास। १।) १॥)
४६—किसानों का बिगुल। [जब्त अप्रा०] =)
४७—फांसी। ।=)
४८—अनासक्तियोग और गीताबोध। ।=)
४९—स्वर्ण विहान। [जब्त अप्राप्य] ।=)
५०—मराठों का उत्थान और पतन। २॥)
५१—भाई के पत्र। १॥) २)
५२—स्वगत। ।=)
५३—युगधर्म। [जब्त अप्राप्य] १=)

५४—स्त्री समस्या। १॥) सजिल्द २)
५५—विदेशी कपड़े का मुकाबला। ॥=)
५६—चित्रपट। ।=)
५७—राष्ट्रवाणी। [अप्राप्य] ॥=)
५८—इङ्गलैण्ड में महात्मा जी। १)
५९—रोटी का सवाल। १)
६०—दैवी सम्पद्। ।=)
६१—जीवन-सूत्र। ॥।)
६२—हमारा कलङ्क। ॥=)
६३—बुद्बुद्। ॥)
६४—संघर्ष या सहयोग? १॥)
६५—गांधी-विचार दोहन। ॥।)
६६—एशिया की क्रान्ति। [जब्त अप्रा०] १॥।)
६७—हमारे राष्ट्र-निर्माता। २॥) ३)
६८—स्वतन्त्रता की ओर। १॥)
६९—आगे बढ़ो। ॥)
७०—बुद्ध-वाणी। ॥=)
७१—कांग्रेस का इतिहास। २॥)
७२—हमारे राष्ट्रपति। १)

७३—मेरी कहानी । ४)
७४—विश्व इतिहास की झलक । ८)
७५—हमारे किसानों का सवाल । ।)
७६—नया शासन विधान । ।।।)
७७—हमारे गांवों की कहानी । ।।)

आगे प्रकाशित होने वाले ग्रन्थ

१—गाँधीवाद, समाजवाद ।
२—विनाश या इलाज ?
३—गीतामंथन ।
४—राजनीति प्रवेशिका ।
५—जब से अंग्रेज आये ।
६—महाभारत के पात्र ।
७—संतवाणी ।
८—गाँधी साहित्य-माला । (१५ भागों में)

नवजीवन माला की पुस्तकें

१—गीताबोध गांधी जी । -)।।
२—मङ्गलप्रभात ,, -)।।
३—अनासक्तियोग । =) श्लोक सहित ≡)

'गाँधी-साहित्य-माला'

[एक योजना]

महात्माजी के अब तक के चुने हुए लेखों और भाषणों का विषयवार संग्रह 'मण्डल' से बड़े पैमाने पर निकालने का आयोजन हो रहा है। माला में १५-२० पुस्तकें होंगी। पृष्ठ संख्या २२५-२५० के लगभग रहेगी और दाम ||) होगा। इसके ग्राहक बनने की कोई प्रवेशफीस नहीं रक्खी गई है। लेकिन एक शर्त यह जरूर होगी—इसके स्थायी ग्राहकों को माला की सारी पुस्तकें खरीदनी होंगी। जो इस प्रकार अपना नाम लिखावेंगे उनको पुस्तकें पौने मूल्य में मिलेंगी। विशेष विवरण के लिए लिखें।